शान्ति के पथपर

[दूसरी मंजिल]

आचार्य श्री तुलसी

प्रकाशक—

"शान्ति के पथपर" सर्वोदय ज्ञानमाला के।

जिसका उद्देश्य विशुद्ध तत्त्व-ज्ञानके साथ भारतीय और दर्शनका प्रचार करना है। इसके सुश्रृङ्खलित प्रकाशनमें चुरू (राजस्थान) के अनन्य साहित्य-प्रेमी श्री हनूतमलजी सुरानाने अपने स्वर्गीय पितामह श्रीशोभाचंदजीकी स्मृतिमें नैतिक सहयोग के साथ आर्थिक योग देकर अपनी साहित्य-सुरुचिका परिचय दिया है, जो सबके लिए अनुकरणीय है। हम आदर्श-साहित्य-संघ की ओरसे सादर आभार प्रकट करते हैं।

प्रकाशन मन्त्री

विषय-सूची

विषय　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　पृष्ठ-संख्या

विषय	पृष्ठ संख्या

शान्ति के पथ पर

(दूसरी मंजिल)

अध्यात्मकी लौ जलाइये

आज न केवल भारत ही अपितु समूचा संसार समस्याओ से विकल है। कहीं गरीबी है तो कहीं धनकी रक्षाकी चिन्ता है। जातीय और साम्प्रदायिक संघर्षोंकी धूम है। वर्णभेदका अभिनय अभी विश्वके चित्रपट पर है।

विश्वव्यापी संकटके दौरमे कोई एक देश बचकर नहीं रह सकता। वह भी इस युगमें जबकि दुनियाके एक कोनेका स्वर दूसरे कोनेमे झंकृत हो उठता है।

यह वस्तुस्थिति है। फिर भी निष्क्रिय होकर बैठजाना ठीक नहीं। समस्याओंका हल सोचते रहना और करते रहना—यही सयानापन है।

अहिंसा, संयम और अपरिग्रह भारतवासियोकी पैतृक सम्पत्ति है। आज वे इस सम्पत्तिको भूलकर अपने आपको

दरिद्र और दुःखी अनुभव कर रहे हैं। उत्पादन और पूंजीको बढ़ानेमात्रसे ही समस्याओंका हल हो जाए—यह समझना निरी भूल है। भारतकी जनताको इससे सीखना चाहिए कि जिस देशके सामने राष्ट्रीका सवाल नहीं है वह प्रायः सब देशों से अधिक व्यग्र है। आत्म-सतोष और आत्म-समानताकी भावनाका विकास हुए बिना न तो राष्ट्रीका प्रश्न समाहित हो सकता है और न वास्तविक सफलता।

मैं भारतीय जनतासे अनुरोध करूंगा कि वह आध्यात्मि कताको पुरानी पुस्तकोंमें कुछोंमें ही बंद न रखे। बस पूर्वजोंकी अपूर्व देनको जो चिर विचार प्रवाहकी सूक्ष्म और सात्वताका सुपरिणाम है सभाले। प्रयोग कर देखे। वर्तमान युग वैज्ञानिक युग है। आज बिना प्रयोग किए किसी वस्तु या बाद पर विश्वास नहीं होता।

मैं फिर इसी बातको दोहराता हूं कि थोड़े समयके लिए एक बार अध्यात्मवादका प्रयोग कर देखें। यदि ऐसा किया गया तो मुझे विश्वास है कि भारतसे फिर विश्वको पथ-दर्शन मिलेगा।

वर्तमान विषमता का हल

विषमता आखोंके सामने है, इसके लिए क्या कहू? सोचना है इसके विषयमें, हल क्या है? आज सकटकी अनुभूतिसे कौन व्यक्ति परे है। केवल मौखिक और कागजी योजनाओंसे कुछ होनेवाला नहीं। योजनाएँ विचारोंमें क्रान्ति पैदा कर देती है, पर उन्हें क्रियात्मक रूप दिये बगैर जो कुछ करना है, वह नहीं बनता। जहा स्वार्थों पर टक्कर लगती है, वहा मैं मैं की जगह तू तू हो जाती है। यही तो विषमता है। कहना सहज है परन्तु करना कठिन है। जबतक व्यक्ति-व्यक्तिमे कहनेके पहले करने की प्रवृत्ति न हो तबतक गुत्थी कैसे सुलझे। आन्तरिक विषमता मिटानेके लिए कटिबद्ध होना चाहिए। बाह्य विषमता तो इसके पीछे स्वत· मिटनेवाली है।

लोकदृष्टिमें आज अर्थकी सबसे बड़ी विषमता है। इसे मिटाने का प्रयास भी चालू है, पर मिटे कैसे? जबतक सबका हृदय

एक न हो। आर्थिक वपम्य संग्रहवृत्तिसे पनपता है। संग्रह पर अधिकार कुचले बगैर कैसे हो? स्वच्छ पानीसे कभी दरिया नहीं भरता। धनके लिए मानव औचित्यकी सीमासे परे हट जाता है क्या यह मानवता है? धनकी भूख समाप्त हो सकती है पर मनकी भूख कैसे मिटे? मानव आध्यात्मिकता भूला तभी तो विषमता पनपी। आध्यात्मिकताको भूलनेका अर्थ होता है अपने आपको भुलाना अथवा अकर्तव्यको भुलाना। अपने आपको भूलनेसे बढ़कर और भयंकर भूल क्या हो सकती है। सबकी आस्था धन पर टिकी हुई है पर धनमें सुख क्या है यह नहीं सोचते। सुखके लिए धन इकट्ठा करते हैं परन्तु असलमें कितने कष्ट भोग सह पड़ते हैं यह कौन देखे? सब रोगोंसे भी धन रोगकी चिन्ता अधिक है क्योंकि धन ही तो सब कुछ रहा! स्पर्द्धावृत्ति उत्तरोत्तर क्यों बढ़ रही है कुछ समझमें नहीं आता।

विषमता को दुःख है वह है। उसके उपचारकी बात सोचनी है भूख पर प्रहार करना है। उपचार है आध्यात्मिकताका प्रसार और निजमें स्वीकार। भौतिकवादका प्रसार आज बहुत बढ़ा चढ़ा है। समूचा विश्व उसकी चकाचौंधमें फंसा हुआ है। उसकी बात सुननेको सब राजी हैं लेकिन अपनी बात कौन सुने समझे। आज बुरीसे बुरी चीजका विज्ञापन होता है। बीड़ी सिगरेट जैसी निकृष्ट चीज भी विज्ञापन द्वारा बढ़ाई चढ़ाई जाती है और करोड़ों रुपये पैदा किये जाते हैं। अच्छी चीजका प्रसार करना ही लक्ष्य होना चाहिए। प्रसारके पहले स्वीकार

आवश्यक हो जाता है, अन्यथा प्रसार कोई अर्थ नहीं रखता। निजमे स्वीकार न करके प्रसार करना तो अपनेको हास्यास्पद बनाना है। आप कहेंगे कि मै तो कर नहीं सकता—कमजोरी है, तो आपको दूसरोको करनेके लिए कहनेका क्या अधिकार है ? दूसरे कैसे कर सकेंगे, क्या उनमे कमजोरी नहीं ?

साम्यवाद कोई विषमताका हल नहीं। वह तो बाह्य उपचार-मात्र है। सब वर्ग सन्तुष्ट न हो, वह क्या साम्यवाद ? वस्तुत दु खका कारण अर्थ-लिप्सा है। धनी और गरीब दोनो उसमे लिप्त है। मेरी दृष्टिमें दोनोका रास्ता गलत है। दोनो सन्तुष्ट बन जाय तो शान्ति उनसे परे नहीं। मै तो दोनोंसे एक बात कहूगा, धन-लिप्सा छोड़ें, मुझे किसीसे कुछ लेना नहीं। धन आपसे मुह न मोडे, आप उससे मुह मोडें, इसीमे बहादुरी है। शरीर हमें न छोड दे, हम शरीरको छोड़ दें इसी दृष्टिसे जैन दर्शनमें आमरण अनशनका विधान है।

गृहस्थ अपरिग्रही कैसे बने ? काम नहीं चलता। इस बहाने से संचय-वृत्तिमें गढ जाना तो उचित नहीं। घोर परिग्रही मत बनिये, इसमें कोई लाभ नहीं है। घोर आध्यात्मिक बनिये। शायद गरीब भी भूखा तो नहीं रहता होगा। दु ख तो 'क्यो नहीं' का है। उसके कारें हैं, मेरे क्यो नहीं। गरीब सोचते हैं—हम दु खी हैं, पूंजीपति सुखी हैं। वस्तुत पू जीपति सुखी नहीं, उनकी चर्या देखनेसे पता चलता है। मैं तो सोचता हू उन जितने दु खी शायद गरीब भी नहीं। पग-पग पर उन्हें चिन्ता

रहती है पूंजी कैसे पचाएं? टैक्ससे कैसे बचें? पहरूएं कैसे रखें? यहांतक कि भोजन भी सुखसे नहीं कर पाते। दु:ख संग्रह में है संग्रह नहीं तो दु:ख कुछ चीज नहीं। आप मेरा और मेरे सपका उदाहरण लीजिये। हमारे पास कौड़ी भी नहीं, फिर भी परम सुखी हैं। सुख धनमें नहीं आत्मामें और सन्तोषमें है।

एक यौगलिक युग था। उसमें संग्रह लिप्सा न थी तो कोई दु:ख भी न था। संग्रहके साथ विषमता और संकट बढ़ता है। जब इसका आन्तरिक उपचार नहीं कर पाते तब लोग साम्यवाद की ओर ताकते हैं। पर उससे होगा क्या यह नहीं सोचते। व्यष्टिकी पूंजी समष्टिमें केन्द्रित होने पर भी होगा क्या? क्या साम्यवादी राष्ट्रमें संग्रह-वृत्ति नहीं है? दूसरे राष्ट्रको कुचलनेकी भावना नहीं है? वह कैसा साम्यवाद? आवश्यकता है—आत्मौपम्यवाद की। जिसमें कोई किसीके अधिकारोंको नहीं कुचलता। हमारी तरह सब सुखी बनना चाहते हैं। अपने सुखके लिए दूसरोंके सुखको न लूटना यही व्यक्ति-व्यक्तिमें यह भावना होती है। जिसमें कोई किसीका दास—गुलाम नहीं होता। विषमता मिटानेका यही तरीका है। जो रही अभमें साम्यवादसे नहीं मिटता। आत्मौपम्यवाद सदाचार और संयम की भित्ति पर टिका हुआ है। आर्थिक साम्य होने पर भी बुराई नहीं मिट सकती जो कि सदाचार व संयमसे मिट सकती है।

संयमी बननेका यह अर्थ नहीं कि दरिद्री बनो। त्यागी बनो धनके लिए त्राहि-त्राहि मत करो, धनको ठुकराओ। धनी और

दरिद्री सब धन-लिप्सु हैं, त्यागी नहीं। विशेषत चोटीके नेताओं को त्यागी बनना अत्यावश्यक है। राष्ट्रकी बागडोर उनके हाथमे है, उनके व्यक्तित्वका बहुत असर पड सकता है। वक्तव्योमे नहीं आचरणोंमे सादगी होनी चाहिए। आप अट्टालिकाओंमे मौज करें और लोगोंसे कहें शोषण मत करो। यह मत करो, वह मत करो, शराब बन्द करो, (खुद पीते है), इससे क्या हो सकता है। मैं तो सबसे यही कहूगा पूजीपति नहीं, मानव बनो, दरिद्री नहीं, त्यागी बनो। सुख धनमें नहीं, दु ख निर्धनतामें नहीं, सुख सन्तोषमे है, दु ख लिप्सामे है।

विश्वबन्धुत्व और अध्यात्मवाद

आज विश्वमैत्रीकी आवश्यकता है। मनुष्यके प्राय किसी न किसीके साथ मैत्री या होती ही है परन्तु सबके साथ मैत्री प्रेम होना चाहिए, चाहे वह विरोधी ही क्यों न हो। प्राणीमात्रके साथ मेरी मैत्री है, किसीके साथ विरोध नहीं—यही भगवान् महावीरका दृष्टिकोण था। संसार आज संत्रस्त है। विश्वबन्धुत्व की भावनाका जन-जनमें प्रसार होना चाहिए।

वस्तुतः मनुष्य मनुष्यका शत्रु नहीं होता। मनुष्यको ही नहीं अपितु प्राणीमात्रको ही मित्र समझना चाहिए। [illegible] [illegible] ऋषिकाएं जीवमात्रको आत्मतुल्य मानना चाहिए। मानवको शत्रु मानना बुद्धिकी कमी है। सजातीय तत्त्वोंमें विरोध नहीं होता। विरोधका आधार विजातीय तत्त्व है। दूध और चीनी मिलकर एकरूप बन जाते हैं वे सजातीय हैं। मानसिक भ्रांति

के कारण मनुष्य-मनुष्यमे विरोधका वातावरण पनपता है। मद्यपानसे व्यक्ति उन्मत्त बनता है, पर मानसिक भ्रान्तिसे तो उन्मत्त न बने।

आजका युग आदर्शोकी बातें करता है, उस पर चलता नहीं। आदर्शोसे दूर हटता जा रहा है। मानव आज झगड़नेमें व्यस्त है। आपसी कलह, वैमनस्य, ईर्ष्या प्रलयकालका चित्र सामने ला रहे हैं। प्रलयकालमें मैत्री, प्रेम नामकी कोई चीज नहीं होगी। उस समयमे जो होनेका है वह होगा किन्तु वह अभी क्यो हो रहा है।

साम्प्रदायिक कलह भी आज कम नहीं है। एक की दूसरे पर वक्रदृष्टि है। मुझे खेद है कि आज जैन-सम्प्रदाय भी कलह की लपटमें झुलस रहे हैं। सम्प्रदाय पृथक् हो सकते हैं, विचारो मे मतभेद हो सकता है पर मतभेदके कारण परस्पर झगड़ना, एक दूसरेकी छींटाकसी करना तो उचित नहीं। आखिर मानते तो सब भगवान् महावीरके आदर्शोको ही हैं। भगवान् महावीर के अनुयायिओंमे सहृदयता और बन्धुत्वकी भावना होनी चाहिए। एक दूसरेका सहयोगी बनकर व्यापक दृष्टिकोणसे सत्य-अहिंसाका प्रसार करना चाहिए। आज कलह-वैमनस्यकी आवश्यकता नहीं, सगठन, प्रेम व सहयोगकी आवश्यकता है। सहयोगके बदले रोड़े अटकाना तो सर्वथा अक्षम्य है।

मैं यह भी स्पष्ट कह देता हू कि साम्प्रदायिक भावनाओंको प्रश्रय देनेवाले सम्प्रदाय खतरेसे परे नहीं। उनका भविष्य

कालिमापूर्ण है। जनताके समक्ष भगवान् महावीरके आदर्श रखनेके बदले वे स्वयं भूल जायेंगे विश्व-मैत्रीके बदले शत्रुताको पनपायेंगे। संगठन और वात्सल्यके अभावमें कुछ भी नहीं कर पायेंगे। वैमनस्यको कतई भूलकर सहृदयताको प्रश्रय देना है।

मनुष्यका शत्रु मनुष्य नहीं मनुष्य सजातीय है। अहित करनेवाला शत्रु होता है। नमि राजर्षिके उदाहरणसे शत्रुका चित्र आपके सामने खिंच जाता है। नमि मिथिलाके राजा थे। एक समय वे दाह-ज्वरसे अत्यन्त पीड़ित हुए। सभी चिकित्साएँ उन्हें रोग-विमुक्त करनेमें असफल रहीं। अन्तमें सन्यास लेकर तपोवनमें तपश्चर्या करने लगे। एक समय मुनि और इन्द्रके बड़े विलक्षण प्रश्नोत्तर हुए। इन्द्रने कहा—राजर्षे! अभी आपकी नगरी शत्रुओंसे संकुल है। शत्रु बलवान् हैं पहले उन्हें परास्त करें फिर प्रव्रजित बनें। राजर्षिने कहा—दस लाख योद्धाओंको जीतनेवालेकी अपेक्षा अपनी आत्माको जीतनेवाला महान् विजेता है। कारणकि दुष्प्रवृत्त आत्मा ही सबसे बड़ा शत्रु है।

यह नीति थी। व्यापार के आगे प्राणों तक का मूल्य नहीं था। उसमें कमियां नहीं थीं यह मैं नहीं मानता किन्तु हां वह नीति को प्रधान मानता था। वह आजकल के लोगों की तरह नैतिकता को असम्भव या अव्यवहार्य नहीं कहता था। आज तो लोगों की मूल श्रद्धा ही हिल रही है। इसका पहला कारण है परतंत्रता दूसरा कारण है श्रद्धा में कमी। इतिहास में न जायें वर्तमान कारण खोजें तो तीसरा कारण मिलता है—जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं की अपूर्ति। आज मानव रोटी और कपड़ा जुटाने में अपने को असमर्थ पा रहे हैं। दार्शनिक कारण और भी हो सकते हैं किन्तु मैं अभी व्यवहार की भूमिका पर बोल रहा हूं।

परिस्थितियों की जटिलता भी कम कारण नहीं है। कोई एक अहेतुक चोर बनता होगा अधिकांशतया परिस्थितियों के वश बनते हैं। परिस्थिति का सहारा मिल जाता है बुराई हावी हो जाती है। भगवान् महावीर ने कहा है—"अतुट्ठि दोसेण दुही परस्स लोभाविले आययइ अदत्त।" चोर बनने में अतुष्टि की प्रेरणा है। वह स्थिति न हो तो कोई चोर क्यों बने? वस्तुओं के अभाव और मंहगाई ने सत्य निष्ठा के आस पास रहनेवाले को रिश्वत और चोर बाजारी की ओर खींचा है।

मानव को अनैतिकताको मिथ्या-दृष्टिकोण भौतिक आकांक्षाएं और परिस्थितियां प्रोत करती हैं। इसलिये प्रत्येक युगमें

अनीति के विरुद्ध नीति का आन्दोलन आवश्यक है। प्रकृति-भ्रष्ट मानव को विकृति से हटा, प्रकृति में लाना पुनर्निर्माण नहीं तो क्या है? गीता का यह श्लोक—

यदा यदा हि धर्मस्य, ग्लानिर्भवति भारत।

अभ्युत्थानमधर्मस्य, तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

इसी तथ्य को रूपक भी भाषा में बताता है।

धर्म पर जिन्हें श्रद्धा नहीं, जो सिर्फ व्यवहार की भूमिका पर चलना चाहते हैं उनके लिए भी नैतिकता आवश्यक है। इसके बिना व्यवहार शुद्ध नहीं रह सकता। समाज की रचना का मूल ही नैतिकता है। अशोषण, न्याय और दूसरे का अनपहरण यही तो समाजकी नैतिकतामय-नींव है। साफ कहें तो व्यवहारमें नैतिकता का सम्बन्ध इसलिए है कि उसके बिना समाज नाम की वस्तु टिक ही नहीं सकती।

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या प्रयास करने पर मानव-समाज पूर्ण नैतिक बन सकता है? मेरी दृष्टि में सवाल पूर्ण-अपूर्ण का नहीं। नैतिकता की मात्रा अधिक हो सकती है। कम से कम अनैतिकता का एकछत्र साम्राज्य तो न हो। अन्यथा अनैतिकता नैतिकता के सर्वनाश की ओर बढ़ेगी। अन्याय के विरुद्ध न्याय का संघर्ष न चले, यह दुनियाँ का दुर्भाग्य नहीं तो और क्या हो सकता है? पुनर्निर्माण के रास्ते ये हैं—

१—नैतिकता के प्रति श्रद्धा जागृत की जाय आत्मशक्ति का भान कराया जाय।

२—नैतिकता श्रद्धा से सम्भव है, व्यवहार्य है, सब पदार्थों से पहले और सबसे अधिक उपादेय है—ऐसा वातावरण बनाया जाय।

३—राजनीति में नैतिकता को प्राथमिकता दी जाय। राज्य-सत्ता को किसी धर्म से जोड़ना अनुचित है। सिर्फ उस पर सदाचार का अंकुश रहे।

४—संग्रह को घृणा की दृष्टि से देखा जाय।

सम्भव है इसके स्थान पर जनसाधारण आर्थिक वैषम्य मिटाया जाय' इसे अधिक पसन्द करें। किन्तु मैं डाली को काटने की अपेक्षा मूल को उखाड़ फेंकने की प्रणाली को अधिक उपयुक्त मानता हूँ। जैनदर्शन में सम्यग् दृष्टि और चारित्र इनको मोक्ष-मार्ग बताया गया है। जैन ही क्या प्रत्येक धर्म इन्हें स्वीकार करता है।

आर्थिक वैषम्य मिटाओ इसकी जगह हमारा विचारमूलक प्रचार-कार्य यह होना चाहिए कि— आर्थिक दासता मिटाओ।

जीवन की अनिवार्य आवश्यकताएं रोटी पानी, कपड़ा, मकान दवाई आदि आदि के साधनों को मैं आर्थिक दासता नहीं मानता। आर्थिक दासता वह है कि अन्याय के द्वारा धन का संग्रह किया जाय। न्याय के द्वारा धन का संग्रह हो ही नहीं सकता। गृहस्थों के लिए अपरिग्रहव्रत का यह अर्थ नहीं

कि भूखे मरो, उत्पादन या क्रय-विक्रय मत करो। वह यह है कि दूसरों का अधिकार छीन कर, शोषण कर, प्रामाणिकता और विश्वासपात्रता को गँवाकर एक शब्द मे अन्याय के द्वारा धन संग्रह मत करो। यह तब होगा जब इच्छा हटेगी, अपरिग्रह व्रत बढेगा। अपरिग्रह व्रत का यह ध्येय नहीं कि जीवन की आवश्यकताएँ पूरी न हों, उसका ध्येय है—जीवन विलासी न बने।

बुराई परिस्थितियों की दासता से मानसिक दासता मे अधिक है। पचास रुपया मासिक वेतन पानेवाला कहे कि रिश्वत के बिना काम नहीं चलता, इसे छोडिये पर क्या कई हजार रुपये मासिक वेतन पानेवाले रिश्वत नहीं लेते ? यह क्या आर्थिक दासता नहीं ? करोडपति पदार्थों मे मिलावट और चोर बाजारी करता है क्या उसे रोटी की कमी है ? नहीं यह आर्थिक दासता है।

आपके सामने एक ही मार्ग—अध्यात्मवाद प्रधान नीति है। दूसरी नीति नहीं दीखती। चैतन्य के साथ सुख का अनुभव चाहते हैं तो अध्यात्मवाद के रास्ते पर आइये और आर्थिक दासता के विरुद्ध लडाई प्रारम्भ कीजिये।

अगर यह पसन्द नहीं है तो कोई दूसरा मार्ग, आप चाहें या न चाहें अनिवार्यत आयेगा। मेरा जहां तक ख्याल है—अनुभव है, पूजीपति और सत्ताधारी मौलिक परिवर्तन कर नहीं सकते।

परिवर्तन नहीं करेंगे यह उनकी इच्छा है किन्तु परिवर्तन नहीं होगा यह उनकी इच्छा कहां तक चलेगी। यह कहना जरा कठिन है।

आप अमीर को गरीब और गरीब को अमीर बनानेकी मत सोचिए। दोनों को अपरिग्रही बनाने का मार्ग निकालिए।

गरीब को अभाव सताता है। अमीर को भाव का संरक्षण सताता है। दोनों अग्रही बन जाएं तो सताने जैसी बात ही नहीं रहती।

एक व्यक्ति ने मुझसे कहा—आज का मानव नास्तिक बनता जा रहा है। उसे न परलोक में श्रद्धा है न धर्म-कर्म में। फिर आपकी नतिकता की बात कौन सुनेगा? मैंने उससे कहा—आप यह क्यों मानने लगे कि नतिकता परलोक में विश्वास रखने वालों के लिए ही है। मेरी नैतिकता तो परलोक को न माननेवालों के लिए भी है। जीवन के क्षण क्षण में उसका उपयोग है। और इसलिए है कि मानव-समाज देव समाज न बन सके तो कम से कम दानव-समाज तो न बने।

अहिंसक क्रान्तिको मनुष्य समझ ले तो कल्याण है। हिंसक क्रान्ति को आमन्त्रण देने का कटिबद्ध है तो उसका कोई क्या करे? और यह तो प्रासंगिक चर्चा है नतिकता तो सबके लिए आवश्यक है चाहे कोई भी वादी हो। वह तो नास्तिक से बड़े नास्तिक के लिए भी आवश्यक है। नैतिकता के पुनर्निर्माण की आवश्यकता प्रत्येक के लिए है। सामाजिक वाद

परिवर्तनशील है—आते है, चले जाते है। मे इसे कोई गम्भीर समस्या या अनहोनी बात नहीं मानता। रोटीके सवालके लिए इतना उलझना मुझे अच्छा नहीं लगता। जिसको जो रास्ता पसन्द होता है, वह उसे अपनाता है, मुझे इसमें कोई खास आपत्ति नहीं।

मुझे आपत्ति वहा है जब कि जीवन के कार्य-क्षेत्र की वही सीमा बन जाए। रोटी जीवन की आवश्यकता है, मूल्य नहीं। मूल्य है नैतिकता। रोटी का प्रश्न मेरे लिए कोई प्रश्न ही नहीं किन्तु वह नैतिकता के पुनरुत्थान मे बाधक बन रहा है इसलिये उस पर भी कुछ न कुछ ध्यान चला जाता है। वास्तव मे मे तो गरीबी और अमीरी दोनों की प्रतिष्ठा नहीं चाहता। मे तो सद्गुण की प्रतिष्ठा चाहने वाला हू।

नैतिक पुनरुत्थान के आन्दोलन से कुछ नहीं हो तो यो निराश होने की जरूरत नहीं। कल तक नहीं जागने वाला आज जाग सकता है। सम्भव है अहिंसक तरीके से न चेतने वाला हिंसक क्रान्ति के परिणामों को देखकर चेत जाए। मान लो, कोई न भी चेते तो हम निराश क्यों? हमारा प्रयत्न सही है, हम भूल पर तो हैं ही नहीं। हमे तो उनके न चेतने पर आश्चर्यान्वित नहीं होना चाहिए। जैसे एक कवि ने कहा है—

> "अहन्यहनि भूतानि । गच्छन्तियममन्दिरे ।
> शेषा जीवितुमिच्छन्ति, किमाश्चर्यमत परम् ॥"

समाज की विशुद्ध भूमिका अध्यात्मवाद के लिए और अधिक प्रशस्त बन सकती है। हमारा आन्दोलन प्रत्येक स्थिति मे

परिवर्तन नहीं करेंगे यह उनकी इच्छा है किन्तु परिवर्तन नहीं होगा यह उनकी इच्छा कहां तक चलेगी। यह कहना जरा कठिन है।

आप अमीर को गरीब और गरीब को अमीर बनानेकी मत सोचिए। दोनों को अपरिग्रही बनाने का मार्ग निकालिए।

गरीब को अभाव सताता है। अमीर को भाव का संरक्षण सताता है। दोनों व्रती बन जाय तो सताने जैसी बात ही नहीं रहती।

एक व्यक्ति ने मुझसे कहा—आज का मानव नास्तिक बनता जा रहा है। उसे न परलोक में श्रद्धा है न धर्म कर्म में। फिर आपकी नैतिकता की बात कौन सुनेगा? मैंने उससे कहा—आप यह क्यों मानने लगे कि नैतिकता परलोक में विश्वास रखने वालों के लिए ही है। मेरी नैतिकता तो परलोक को न माननेवालों के लिए भी है। जीवन के क्षण-क्षण में उसका उपयोग है। और इसलिए है कि मानव-समाज देव समाज न बन सके तो कम से कम दानव समाज तो न बने।

अहिंसक क्रान्तिको मनुष्य समझ ले तो कल्याण है। हिंसक क्रान्ति को आमन्त्रण देने को कटिबद्ध है तो इसका कोई क्या करे? और यह तो प्रासंगिक चर्चा है; नैतिकता तो सबके लिए आवश्यक है चाहे कोई भी वादी हो। वह तो आस्तिक से बढ़े नास्तिक के लिए भी आवश्यक है। नैतिकता के पुनर्निर्माण की आवश्यकता प्रत्येक के लिए है। सामाजिक वाद

परिवर्तनशील हैं--आते हैं, चले जाते हैं। मैं इसे कोई गम्भीर समस्या या अनहोनी बात नहीं मानता। रोटीके सवालके लिए इतना उलझना मुझे अच्छा नहीं लगता। जिसको जो रास्ता पसन्द होता है, वह उसे अपनाता है, मुझे उसमे कोई खास आपत्ति नहीं।

मुझे आपत्ति वहा है जब कि जीवन के कार्य-क्षेत्र की वही सीमा बन जाए। रोटी जीवन की आवश्यकता है, मूल्य नहीं। मूल्य है नैतिकता। रोटी का प्रश्न मेरे लिए कोई प्रश्न ही नहीं किन्तु वह नैतिकता के पुनरुत्थान मे बाधक बन रहा है इसलिये उस पर भी कुछ न कुछ ध्यान चला जाता है। वास्तव मे मै तो गरीबी और अमीरी दोनों की प्रतिष्ठा नहीं चाहता। मैं तो सद्गुण की प्रतिष्ठा चाहने वाला हू।

नैतिक पुनरुत्थान के आन्दोलन से कुछ नहीं हो तो यो निराश होने की जरूरत नहीं। कल तक नहीं जागने वाला आज जाग सकता है। सम्भव है अहिंसक तरीके से न चेतने वाला हिंसक क्रान्ति के परिणामों को देखकर चेत जाए। मान लो, कोई न भी चेते तो हम निराश क्यों? हमारा प्रयत्न सही है, हम भूल पर तो हैं ही नहीं। हमे तो उनके न चेतने पर आश्चर्यान्वित नहीं होना चाहिए। जैसे एक कवि ने कहा है—

> *"अहन्यहनि भूतानि । गच्छन्तियमगादिरे ।*
> *शेपा जीवितुमिच्छन्ति, किमाश्चर्यमत परम् ।।"*

समाज की विशुद्ध भूमिका अध्यात्मवाद के लिए और अधिक प्रशस्त बन सकती है। हमारा आन्दोलन प्रत्येक स्थिति मे

विश्वसनीय है। इसलिए किसी भी आन्दोलनकारी को निराश होने की आवश्यकता नहीं।

अब मैं इस मर्मंग पर आ रहा हूं जो इन सबका पोषक है। शिक्षापद्धतिका पुनर्निर्माण किया जाय यानी वह उक्त भावनाओं को—नैतिक मूल्यों को विकसित करनेवाली बनाई जाय। अब तक आप भावी सन्ततिको नैतिकता का मूल्य नहीं समझा सकेंगे तबतक उक्त बातें सिद्धान्तकी सीमाको लांघ, व्यवहारके स्तर पर नहीं आयेंगी और न भौतिकता का आकर्षण घटेगा।

जब एकमात्र भौतिकता का ध्यान रहा है फिर भी कहाँ जा पायेंगी कुछ कहा नहीं जा सकता। जैसे कहा है न—

विषयान् ध्यायतः पुंसः संगस्तेषूपजायते।

संगात् सञ्जायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते ॥

मैंने आजादी के दिन एक प्रवचन में कहा था कि लोग स्वतन्त्र होकर भी अनुभवहीन गुलामी से जकड़े हुए हैं। रोग तो यह है कि वे उस गुलामीकी गुलामी समझ ही नहीं रहे हैं। मैंने एक पद्य कहा था।

इस अनुभव हीन गुलामी को क्या मानव कभी मिटायेंगे ?
मिलकरके खोई मानवता क्या मानव फिरसे पायेंगे ?

मैंने संक्षेप में कुछ बातें कही हैं। उनसे कुछ जिज्ञासा भाई लोगों ने उन्हें समझा तो आशा है कि यह नतिकता का कार्य आगे बढ़ेगा। विश्व का कल्याण होगा।

जीवनकी न्यूनतम मर्यादा

समयका प्रभाव या बौद्धिक चिन्तनका अधिक विकास कहना चाहिए कि लोग अणुव्रत आचरणको कठोर साधना अनुभव करते हैं। मत भूलिए--कठोर साधना महाव्रतका आचरण है, जिसमे जीवन जीनेके लिए नहीं किन्तु आत्माके लिए चलता है। अणुव्रत तो जीवनकी न्यूनतम मर्यादा है। चाहे मानवताकी आदि-रेखा कहिए। पशुताका अन्त होता है, वहां से मानवता शिशु होकर चलती है। उस भेद-रेखाको लोग विवेक कहते हैं। विवेकका फल क्या होना चाहिए--आप स्वयं सोचें। विवेकसे तीन बातें फलित होती हैं--ज्ञान, त्याग, और स्वीकार।

पशु खाता है, मनुष्य खाता है। खाने तक समानता है कन्तु इससे आगे दोनों एक नहीं हैं। पशु खाकर केवल शरीरकी

माँगको पूरा करता है। अणुव्रत क्या है ? मानवताका यौवन है या बचपन ? अगर इसे सार-समझ कर नहीं रखा तो मानवता कैसे जी सकेगी ? मुझे इस प्रश्नका समाधान आप लोगोंसे सुना है। मनुष्यके खानेके पीछे विवेक होता है—वह क्यों खाये क्या खाये कैसे खाये आदि आदि अनेक प्रश्न गुथे हुए होते हैं।

इसी विवेकने मनुष्यको चलाना सिखाया है तो रुकना भी। कायमात्र शरीरकी आवश्यकता है। शरीर रहता है तबतक प्रवृत्ति नहीं रुकती किन्तु विवेकशील होनेके नाते मनुष्य इतना सोचे बिना कैसे रहे कि उसे कमसे कम इस कामसे कहाँ तक बचना है।

अणुव्रत विचारधारा बतलाती है—अनिवार्य हिंसाके बिना शरीरकी माँग पूरी न कर सको तो कमसे कम संकल्प हिंसा अनर्थ हिंसासे तो बचो। ब्रह्मचारी न रह सको तो कमसे कम विलासी तो मत बनो। अपरिग्रही न बन सको तो कमसे कम शोषण तो मत करो। भाषाका पूर्ण संयम न कर सको तो कम से कम अनर्थकारी भाषा तो मत बोलो। अस्वामीक वस्तुके लिए बिना न रह सको तो कमसे कम दूसरेकी स्वामीक वस्तुको तो बिना दिए मत लो।

गीताकी अद्वैत दृष्टि और संग्रह-नय

गीताको मैं अद्वैत-दर्शनका परिणत रूप मानता हूं। यद्यपि इसके आधार पर विरोधी दर्शन द्वैत और अद्वैत दोनों चलते हैं फिर भी इसके संग्राहक या प्रणेता व्यास ऋषिकी सहज भावना अद्वैतको ही लक्ष्य मानकर चलती है।

जैन-साहित्यमें भगवान् महावीरके दृष्टिकोणकी सही व्याख्या देनेवाले शास्त्रोंमें 'आचारांग' पहला है। इसमें संग्रह-दृष्टिका प्राचुर्य है। जैन-दर्शन एकान्ततः न अद्वैत है और न द्वैत। व्यवहार नय या व्यक्तिकी दृष्टिसे पदार्थ अनेक हैं। संग्रह-नय या जातिकी दृष्टिसे सत्ता एक है। यह 'ऐक्य' स्वाभाविक ऐक्य नहीं किन्तु समानताकी चरम स्थितिसे निकलने वाला ऐक्य है।

संग्रह दृष्टिका निरूपण करते समय जैन अद्वैतका समर्थक लगता है। "जे एगं जाणई से सव्वं जाणई"—जो एक को

जानता है वह सबको जानता है। इसमें परमार्थ सत्य—अद्वैतवाद और व्यवहार-सत्य—नानात्व या प्रपञ्च इन दोनों की झलक मिलती है।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।

ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥[1]

योगयुक्त आत्मा सब भूतोंमें एक आत्माको और एक आत्मामें सब भूतोंको देखता है—गीताका यह तत्त्व उससे भिन्न नहीं जाता।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।[2]

जो मुझे सब जगह देखता है और मुझमें सबको देखता है—इसमें भी एकताका प्रतिपादन है—

'तुमंसि नाम तं चेव जं हंतव्वंति मन्नसि"—

जिसे तू मारना चाहता है वह तू ही है—यह इससे भिन्न स्वरूपवाला नहीं लगता।

जैन-सूत्रोंमें एक आत्मा (एगे आया) एक लोक (एगे लोए) आदि-आदि एकतापरक अनेक पाठ मिलते हैं। वे सब 'संग्रह नय' की दृष्टिसे किए गये हैं।

संग्रह-नयकी दृष्टिसे गीताको पढ़ने पर मालूम होता है कि गीताके अद्वैत और जैन-विचारमें बहुत सामंजस्य है। कई वर्षों

१—गीता ६-२९

२—गीता ६ ३

पहले मधुपुर (बंगाल) से एक सन्यासी भारती कृष्णतीर्थ सरदारशहरमे मेरे पास आये। उन्होंने मुझे बताया कि वे जैन-दर्शनको अद्वैतका समर्थक मानते हैं। वे यह तथ्य—"जो एकको जानता है, वह सबको जानता है"—इस सूत्र-वाक्यके आधार पर प्रस्तुत करते थे। मैंने उन्हें बताया कि यदि आप सब दृष्टियोंसे ऐसा न माने तो ठीक है। एक दृष्टिकी सीमा तक जैन-दर्शन इसका समर्थक है। समग्र दृष्टिमे वैसी बात नहीं।

दूसरी घटना दिल्ली विश्वविद्यालयकी है। मैंने वहां 'जैन-दर्शन' पर एक वक्तव्य दिया। वक्तव्य समाप्त होने पर प्रश्नोत्तर चल रहे थे। एक व्यक्तिने पूछा—आपने जो कुछ कहा, वह वेदांत से विरोधी नहीं लगा तो क्या वेदान्त और जैन दोनों एक हैं?

इन प्रसङ्गोंसे आप समझ सकते हैं कि दृष्टि-अभेदमें भिन्न-भिन्न दर्शनोंकी स्थिति कैसी बनती है।

इसके सिवाय गीताके अधिकांश उपदेश, यौगिक व्यवस्था और साधनाके सूत्र जैन-विचारोंसे तात्त्विक साम्य रखते हैं, कुछ एक देखिये—

१—*"आत्मैव ह्यात्मनो मित्र-मात्मैव रिपुरात्मन।*
उद्धरेदात्मनात्मानं, नात्मानमवसादयेत् ॥"

(गीता ६-७)

आत्माको उठाओ, उसे गिरने मत दो। आत्मा स्वयं ही अपना मित्र और वही अपना शत्रु होता है। जैन-सूत्रोंमें लिखा है—

अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाणय सुहाणय ।
अप्पा मितममित्तं च दुपट्ठिय सुपट्ठिर्ओ ॥
(उत्तराध्ययन)

सुख-दुःखका कर्ता आत्मा है। आत्मा ही अपना मित्र है और वही अपना शत्रु। उसे कहाओ गिरने मत दो।

मौलिक व्यवस्थाएँ २— 'समत्वं योग उच्यते । (गीता २ ४८)
समभाव ही योग है। भगवान् महावीरने कहा है— समियाए धम्मे (आचाराङ्ग ५—३ ४) समता ही धर्म है। समाहित एकाकी प्रशान्तात्मा आदि आदि शब्द-प्रयोग घनिष्ठ संपर्कके सूचक हैं।

साधनाके सूत्र ३—गीतामें श्रद्धाको मुख्य स्थान है—
श्रद्धामयोऽयं पुरुषः यो यच्छ्रद्धः स एव सः ।
यह पुरुष श्रद्धामय है—जो जहाँ श्रद्धा रखता है वह वही बन जाता है। यही तत्त्व प्रज्ञापनामें जैन-दर्शन स्वीकार करता है—
"जल्लेसाई दव्वाई आदियाति तल्लेसाई परिणमति ।"
श्रद्धासे ज्ञान पाता है—इस तत्त्वको श्रद्धावान्लभते ज्ञानम्' इस शब्दोंमें गीता और 'सद्धी आणाए मेहावी (आचाराङ्ग) इन शब्दोंमें जैन-सूत्र बताते हैं।

कृष्ण कहते हैं— 'मामेकं शरणं व्रज' मेरी शरणमें आओ और भगवान् महावीरकी वाणीमें "मेरा धर्म मेरी आज्ञामें है" तत्त्वतः इन दोनोंमें कोई अन्तर नहीं।

आप ज्यों-ज्यों आगे चलेंगे—समन्वय करते चलेंगे त्यों त्यों दर्शन-धाराकी भेद-दृष्टि टूटेगी। अभेद-दृष्टिका विकास होगा।

मैं गीता प्रेमियोंसे यह कहना चाहूंगा कि वे गीताके गूढ भावोंको सही रूपमें समझें। "स्वधर्मे निधनं श्रेय, परधर्मो भयावह"—अपने धर्ममें मरना अच्छा है किन्तु पर-धर्ममें जाना अच्छा नहीं—यह और ऐसे ही दूसरे अनेक श्लोक हैं, जो ठीक नहीं पकडे जाते। फल यह होता है कि आपसी विवाद बढ चलता है। कई स्वार्थी व्यक्ति स्व-धर्म और परधर्मको—स्व-संप्रदाय और पर-सम्प्रदाय बताकर लोगोंको भ्रममें डाल देते हैं। आत्म-धर्म या समाज-व्यवस्थाके पोषक तत्त्वको वे कट्टरपन्थी बनानेका शस्त्र बना डालते हैं। वास्तवमें इसका अर्थ है कि क्षमा, सत्य, सतोष आदि आदि जो आत्म-धर्म हैं, उनकी साधनामें मर जाना अच्छा है। पर-धर्म—क्रोध, असत्य, लोभमें जाना खतरनाक है। अथवा वर्ण-व्यवस्थाकी दृष्टिसे अपने-अपने क्षेत्रमें रहना अच्छा है। पर-क्षेत्रमें जाना ठीक नहीं। इस प्रकार यथार्थ दृष्टि लिए चलें तो विरोधको बढनेका मौका ही न मिले। मुझे विश्वास है सब धर्मोंके लोग उदारचेता और विशाल दृष्टि बनेंगे।

अनेकान्त

जैनधर्मका नाम याद आते ही अहिंसा साकार हो आँखोंके सामने आ जाती है। अहिंसाकी अवधारणा व शब्दके साथ इस प्रकार घुली मिली हुई है कि इसका विभाजन नहीं किया जा सकता। लोकभाषामें यही प्रचलित है कि जैन धर्म यानी अहिंसा, अहिंसा यानी जैन धर्म।

धर्म मात्र अहिंसाको आगे किये चलते हैं। कोई भी धर्म ऐसा नहीं मिलता जिसका मूल या पहला तत्त्व अहिंसा न हो। तब फिर जैन धर्मके साथ ही अहिंसाका ऐसा तादात्म्य क्यों? यहीं विचार कुछ आगे बढ़ता है।

अहिंसाका विचार अनेक भूमिकाओंपर विकसित हुआ है। कायिक, वाचिक और मानसिक अहिंसाके बारेमें अनेक धर्मोंमें विभिन्न धारणाएँ मिलती हैं। स्थूल रूपमें सूक्ष्मताके बीज भी न मिलते हों वैसी बात नहीं। किन्तु बौद्धिक अहिंसाके क्षेत्रमें

भगवान् महावीरसे जो अनेकान्त दृष्टि मिली, वही खास कारण है कि जैन धर्मके साथ अहिंसाका अविच्छिन्न सम्बन्ध हो चला।

भगवान् महावीरने देखा कि हिंसाकी जड विचारोंकी विप्रतिपत्ति है। वैचारिक असमन्वयसे मानसिक उत्तेजना बढती है और वह फिर वाचिक एव कायिक हिंसाके रूपमे अभिव्यक्त होती है। शरीर जड है, वाणी भी जड है। जडमे हिंसा-अहिंसाके भाव नहीं होते। इनकी उद्भव-भूमि मानसिक चेतना है। उसकी भूमिकायें अनन्त है।

प्रत्येक वस्तुके अनन्त धर्म हैं। उनको जाननेके लिये अनन्त दृष्टियाँ हैं। प्रत्येक दृष्टि सत्याश है। सब धर्मोंका वर्गीकृत रूप अखण्ड वस्तु है और सत्याशोका वर्गीकरण अखण्ड सत्य होता है।

अखण्ड वस्तु जानी जा सकती है किन्तु एक शब्दके द्वारा एक समयमें कही नहीं जा सकती। मनुष्य जो कुछ कहता है, उसमे वस्तुके किसी एक पहलूका निरूपण होता है। वस्तुके जितने पहलू हैं उतने ही सत्य हैं। जितने सत्य हैं उतने ही द्रष्टाके विचार हैं। जितने विचार हैं उतनी ही आकाक्षायें हैं जितनी आकाक्षायें हैं उतने ही कहनेके तरीके हैं। जितने तरीके हैं उतने ही मतवाद हैं। मतवाद एक केन्द्र बिन्दु है। उसके चारों ओर विवाद-संवाद, संघर्ष-समन्वय, हिंसा और अहिंसाकी परिक्रमा लगती है। एकसे अनेकके सम्बन्ध जुडते है, सत्य-असत्यके प्रश्न खड़े होने लगते हैं। बस! यहींसे विचारोंका स्रोत दो धाराओंमें

वह सकता है—अनेकान्त या सत् एकान्त दृष्टि—अहिंसा, असत् एकान्त दृष्टि—हिंसा।'

कोई बात या कोई शब्द सही है या गलत इसकी परख करने के लिये एक दृष्टिकी अनेक धाराएं चाहियें। वक्ता जब शब्द कहा तब वह किस अवस्थामें था। उसके आसपासकी परिस्थितियाँ कैसी थीं? उसका शब्द किस शब्द शक्तिसे अन्वित था? विवक्षामें किसका प्राधान्य था? उसका उद्देश्य क्या था? वह किस साधकको लिये चलता था? उसकी अन्य निरूपण पद्धतियाँ कैसी हैं? तत्कालीन सामयिक स्थितियाँ कैसी थीं? आदि-आदि। अनेक छोटे-बड़े बाट मिलकर एक-एक शब्दको सत्यके तराजू पर तौलते हैं।

सत्य जितना उपादेय है, उतना ही कठिन और छिपा हुआ है। उसको प्रकाशमें लानेका एकमात्र साधन है 'शब्द'। उसीके सहारे सत्यका आदान-प्रदान होता है। शब्द अपने आपमें सत्य या असत्य कुछ नहीं है। वक्ताकी प्रवृत्तिसे वह सत्य और असत्यसे जुड़ता है। 'रात' एक शब्द है वह अपने आपमें सही या झूठ कुछ भी नहीं। वक्ता यदि रातको रात कहे तो सत्य है और अगर वह दिनको रात कहे तो वही शब्द असत्य हो जाता है। शब्दकी ऐसी स्थिति है तब बस कोई व्यक्ति केवल उसीके सहारे सत्यको ग्रहण कर सकता है? इसीलिये भगवान महावीरने बताया—प्रत्येक सत्य वस्त्वंश-अपेक्षासे ग्रहण करो। सत्य सापेक्ष होता है। एक सत्यांशके साथ लगे या

छिपे अनेक सत्यांशोंको ठुकराकर कोई उसे पकड़ना चाहे तो वह सत्यांश भी उसके सामने असत्यांश बनकर आता है।

दूसरोंके प्रति ही नहीं किन्तु उनके विचारोंके प्रति भी अन्याय मत करो। अपनेको समझानेके साथ-साथ दूसरोंको समझानेकी चेष्टा करो। यही है अनेकान्त दृष्टि, यही है अपेक्षावाद और इसीका नाम है बौद्धिक अहिंसा। भगवान् महावीर ने इसे दार्शनिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रखा। इसे जीवन व्यवहारमें भी उतारा। चण्डकौशिक साँपने भगवान्के डंक मारे तब उन्होंने सोचा—यह अज्ञानी है। इसीलिए मुझे काट रहा है। इस दशामें मैं उस पर क्रोध कैसे करूं? संगमने भगवान्को कष्ट दिये तब उन्होंने सोचा कि यह मोह-विक्षिप्त है इसलिये यह ऐसा जघन्य कार्य करता है, मैं मोह-विक्षिप्त नहीं हूं इसलिए मुझे क्रोध करना उचित नहीं।

भगवान्ने चण्डकौशिक और अपने भक्तोंको समान दृष्टिसे देखा इसलिए देखा कि विश्वमैत्रीकी अपेक्षा दोनों उनके समकक्ष मित्र थे। चण्डकौशिक अपनी उग्रताकी अपेक्षा भगवान्का शत्रु माना जा सकता है किन्तु वह भगवान्की मैत्रीकी अपेक्षा उनका शत्रु नहीं माना जा सकता।

इस बौद्धिक अहिंसाका विकास होनेकी आवश्यता है।

स्कन्दक सन्यासीको उत्तर देते हुए भगवान्ने बताया—विश्व सान्त भी है अनन्त भी। यह अनेकान्त दार्शनिक क्षेत्रमें उपयुज्य है। दार्शनिक संघर्ष इस दृष्टिसे बहुत सरलतासे सुलझाये जा

सकते हैं। किन्तु इसका क्षेत्र सिर्फ मतवाद ही नहीं है। कौटुम्बिक सामाजिक और राजनैतिक अनेक संघर्षोंके लिए सदा खुले रहते हैं। इनमें अनेकान्त दृष्टिमूलक बौद्धिक अहिंसाका विकास किया जाय तो बहुत सारे संघर्ष टल सकते हैं। जो कहीं मध या द्वन्द्वीभाव बढ़ता है, उसका कारण एकान्त आग्रह ही है। एक रोगी कहे मिठाई बहुत हानिकर वस्तु है—उस स्थितिमें स्वस्थ व्यक्तिको यकायक झेंपना नहीं चाहिये इसे सोचना चाहिये कोई भी निरपेक्ष वस्तु लाभकारक या हानिकारक नहीं होती। उसकी लाभ और हानिकी वृत्ति किसी व्यक्ति विशेषके साथ जुड़नेसे बनती है। जहर किसीके लिये जहर है वही किसी दूसरेके लिए अमृत होता है। परिस्थितिके परिवर्तन में जहर जिसके लिये जहर होता है उसीके लिये अमृत भी बन जाता है। साम्यवाद, पूँजीवादको बुरा बतलाता है और पूँजीवाद साम्यवादको। इसमें भी ऐकान्तिकता ठीक नहीं हो सकती। किसीमें कुछ और किसीमें कुछ विशेष तथ्य मिल ही जाते हैं। इस प्रकार हर क्षेत्रमें जन धर्म अहिंसाको साथ लिये चलता है।

जैन स्वयं इस सिद्धान्तका विशेष उपयोग नहीं कर रहे हैं। इसलिये इसका यथेष्ट विकास नहीं होता। यह केवल एक सिद्धान्तकी वस्तु बन रहा है। जैन-अनुयायियोंका कर्तव्य है कि वे इसे व्यवहारमें लायें। अगर ऐसा हुआ तो दूसरे स्वयं इसका मूल्य समझेंगे।

जैन-एकता

जैन-एकताका प्रश्न मेरे लिए हृदयस्पर्शी प्रश्न है। मैं समय समय पर इस विषयमें सोचता और कहता रहा हूं। इस समय भी कुछ विचार व्यक्त करूं ऐसी मेरी भावना है।

एकताका प्रश्न जितना प्रिय होता है उतना टेढ़ा भी। फिर आशावादी व्यक्ति किसी भी सम्भावनाको टाल नहीं सकता। एकताका अर्थ क्या हो? जैनके सभी सम्प्रदायोंका एकीकरण या उनका अविरोध अथवा शक्ति संचय। एकीकरणकी बात मेरी दृष्टिमें बहुत दूरकी बात है। कटु, किन्तु स्पष्ट कहूं तो वर्तमानके वातावरणमें रहते हुए वह असम्भव सी है। पहले इसकी भूमिका प्रशस्त करनेके लिए दूसरा और तीसरा विकल्प हमारे चिन्तनका विषय बनना चाहिए। पारस्परिक विरोध करते हुए कुछ भी होना सम्भव नहीं। विरोधसे मेरा तात्पर्य सैद्धान्तिक मतभेदसे नहीं, पारस्परिक दुर्भावनासे है।

कार्यवाहीमें बहुत विश्वास है। अन्तरकी भूमिका मजबूत हो तो बाहरी हवा उसे हटा नहीं सकती अन्यथा होता क्या है कि जो कुछ बनता है उसे आसपासके झोंके हटा देते हैं। स्थायी चित्र बन पाता ही नहीं।

मैं इस विषय पर अभी अधिक लम्बा नहीं चलूंगा। इस समय मेरा झुकाव अविरोध की ओर अधिक है। उसकी कुछ *प्रवृत्तियों का निर्देशन करना भी मुझे आवश्यक लगता है* —

(क) प्रत्येक सम्प्रदाय अपनी मान्य परम्पराओं के प्रतिपादन का प्रचार से आगे न बढ़े। दूसरों के प्रति घृणा रोष अनादर-भाव न फैलाये।

(ख) आपस में एक दूसरे पर आक्षेप न करे। निन्दात्मक पत्र आदि न निकाले।

(ग) सैद्धान्तिक मतभेदोंका साम्प्रदायिक कार्यों में उपयोग न करे।

(घ) रोटी-बेटी का व्यवहार बन्द करना आदि-आदि घृणित प्रवृत्तियों को न अपनाये।

(ङ) किसी भी सम्प्रदायके साधुका किसी प्रकार भी तिरस्कार या असम्मान न करे।

(च) सम्प्रदाय परिवर्तन की स्वतन्त्रता में बाधा न पहुंचाये। प्रतिबन्ध आदि न लगाये।

(छ) अपने सम्प्रदाय में लानेके लिए किसी पर दबाव न डाले।

(ज) अमुक क्षेत्र अमुक साधु या मुनि का है इस भावना को प्रोत्साहन न दे।

इन धारणाओं को कार्यरूप देने के लिए सब सम्प्रदायों का एक नियमित वर्ग सम्मिलित प्रयत्न करे और सामूहिक नियंत्रण रखे तो मुझे ऐसा लगता है कि स्थितिमें बहुत परिवर्तन हो जाय। सद्भावना का वातावरण पैदा करना ही कठिन है। इस कठिनाई को पार करने पर हमारा भावी कार्यक्रम बहुत सरल हो सकता है।

हिंसा और अहिंसा का द्वन्द्व

समूचा संसार शान्ति की खोज में है। हिंसा के पाशविक परिणामों को भोगकर भी वह विमूढ़ है। अहिंसा का प्रशस्त मार्ग दीखता है पर श्रद्धा नहीं होती। मनुष्य अशांति से छुट्टी पाने को कुछ-कुछ अहिंसा की ओर बढ़ता है किन्तु हिंसा का मोहक आकर्षण उसका पल्ला खींचता है, वह ठिठक जाता है।

अमेरिका जैसा धनी और रूस जैसा श्रमी राष्ट्र भयग्रस्त है। जीवन की आवश्यक वस्तुएं श्रम और धन भी शान्ति के लिए पर्याप्त नहीं हैं, केवल जीने के लिए पर्याप्त हैं। हिंसा और अहिंसा का स्वरूप यहां साफ हो जाता है। कोरा मनुष्य-जीवन का सार नहीं, उसका सार है—शान्ति का अनुभव करना। उसका साधन एकमात्र मैत्री ही है।

श्रम और धन का सद् मूल्य भी अहिंसा का वातावरण बने बिना किंचित्कर नहीं हो सकता। प्रत्येक व्यक्ति और राष्ट्र

यह समझे कि किसी भी दृष्टि से दूसरो पर प्रभुत्व, अधिकार और सत्ता स्थापित करने से न कभी भी शान्ति हुई है और न होने की है। अणुव्रतीसंघ का नकारात्मक दृष्टिकोण शान्ति की भूमिका को प्रशस्त करता है। 'नकार' को साधे बिना 'सकार' की ओर बढ़ना कठिन है।

अहिंसा से सम्भव है, सीधे रूप मे रोटी, कपडा और मकान न मिले पर इनके मिलने पर भी जो वस्तु यानी शान्ति नहीं मिलती वह अहिंसा से मिल सकती है। इसलिए अहिंसा का मूल्य सर्वोपरि है।

इस दिन के उपलक्ष में सब लोग निष्ठापूर्वक त्याग और सयम की प्रतिष्ठा बढ़ाये, अणुव्रतो को फैलायें—यह मेरी मंगल-कामना है।

[दिल्ली अहिंसा-दिवस के अवसर पर]

विश्वशान्ति और सद्भाव

मम प्रेमी बन्धुओं !

विश्व शान्तिका प्यासा है। राजनैतिक वातावरण से वह नहीं मिल रही है। त्यागी सन्तों से उसका पथ-दर्शन चाहता है—यह ठीक ही है। पुराने समय में त्यागी ऋषि-महर्षियों से जनता शान्ति का सन्देश लेती थी व वे भी निःस्वार्थ भाव से देते थे। बीच का वातावरण कुछ धूमिल सा हो गया था। सन्तों में जनता की भक्ति नहीं रही, इसका कारण तत्कालीन सन्त ही थे। उनमें साधुता का अभाव था जनता क्या करे? जो साधना न करे वह सन्त भी नहीं। साधना आत्मा के लिये न कि किसी को भक्त बनाने के लिए होनी चाहिए। भक्त बनाने की दृष्टि से की जानेवाली साधना अधूरी है, वह साधना नहीं स्वार्थवृत्ति है। आज जनता का आकर्षण सच्चे साधुओं के प्रति उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है, बढ़ना भी चाहिए।

शान्ति और सद्भाव को प्रतिष्ठित करने के पहले अशान्ति और असद्भाव के कारण जानलेना जरूरी है। रोग का ठीक निदान किये बिना चिकित्सा नहीं की जा सकती। अशान्ति और असद्भाव का व्यापक प्रसार है और हो रहा है। भय, बलात्कार और असत्प्रवृति अशान्ति के कारण है। वास्तविकता को छिपाना, अपने को बड़ा बताना, परनिन्दा, दम्भचर्या, साम्प्रदायिकता ये सब चीजें असद्भाव को जन्म देती है। इन सब चीजो का प्रतिकार श्रमणसंस्कृति के द्वारा सम्भव है। शम, सम और श्रम—श्रमणसंस्कृति के ये तीन अंग है। आज इन तीनो की कमी है।

शम का अर्थ है कषायों का उपशम। प्रशम-भावना के स्थान में आज उग्र भावना है—क्रोध, अहभाव, दम्भचर्या और लोभ है। भगवान् महावीर के शब्दो मे ये चार बड़े दोष हैं। इनको छोड़ने में अपना और दूसरो का हित है। क्रोध का शमन क्षमा और सहनशीलता से होगा। जो मानव गाली देता है, अन्याय करता है वह अपना अनिष्ट करता है। उसके समान नहीं होना चाहिए। क्षमा के समान क्रोध-शमन की कोई चिकित्सा नहीं।

मैं महान् हू, आकर्षक वक्ता हू, प्रमुख लेखक हू, कवि हू—ये सब अभिमान के चिह्न है। गर्व करना लघुता है, महान् व्यक्ति, को अहभाव नहीं छू सकता। ससार मे अनेकानेक बड़े हैं। अपने को बड़ा मानना मूर्खता है। शान्तभाव और मृदुता से

अहंभाव का वमन करना चाहिए। दम्भचर्या से मनुष्य प्रतिष्ठा और विश्वास को गवा देता है। सरलता—आर्जव को जीवन में उतारना चाहिए। कपटवृत्ति का परिणाम कटु है। लोभ आग है। वह धन से नहीं बुझती सन्तोष-जल से इसे बुझाना चाहिए। इस तरह कषायों का प्रशम किया जा सकता है।

सम समानता की ओर झुकने को कहता है। यह ऊंचा है यह नीचा है मैं महान हूं यह विचारधारा अशान्ति को जन्म देती है। वस्तुतः गुणी ऊंच और अवगुणी नीच है। काम करनेमात्र से कोई ऊंच-नीच नहीं होता। प्राणी-साम्य की स्थिति में मनुष्य को नीच ऊंच मानना उचित नहीं। इसका परिणाम भयंकर होगा। समता को आदर्श मानने वाले कतिपय धार्मिक व्यक्ति भी इस स्वरूप को नहीं समझ पाये। अमुक को धर्म का अधिकार नहीं अमुक को है—इस व्यर्थ के पचड़े में फंसे हुए हैं। क्या धर्मचर्या में काले-गोरे जाति पांति का भेदभाव हो सकता है? क्या धर्म किसी वर्गविशेषके लिए निर्धारित वस्तु है? नहीं। यह प्राणी मात्र की ग्राह्य वस्तु है। जाति या वर्गविशेष के साथ उसका कोई गठबंधन नहीं। कई महाशय कह उठते हैं कि स्त्री को धर्म करने का अधिकार नहीं है। क्या आजका शिक्षित स्त्री-समाज इस घोर अपमानको सह सकेगा? असमता की भावना कितनी व्यापक है।

श्रम—श्रम कम चीज नहीं। आत्मशुद्धि के प्रति उद्योग होना चाहिए। अकर्मण्यता बुरी है। जो किया है वह होगा

यह भावना मनुष्य को निष्क्रिय बनाती है। करेंगे जो होगा—यह निश्चय होना चाहिए। भाग्य को अधिक महत्त्व देने से उद्योग में शैथिल्य आता है।

> "उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी-
> दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति।
> दैवं विहाय कुरु पौरुषमात्मशक्त्या,
> यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽत्र दोषः ॥"

भाग्यमें जो कुछ लिखा है वही होगा—यह कापुरुषोंकी वाणी है। मेरे कहने का यह तात्पर्य नहीं कि भाग्य का कोई महत्त्व नहीं। एकाङ्गी दृष्टिकोण नहीं होना चाहिए। भाग्य और उद्योग दोनों का महत्त्व है। उद्योग से भाग्य को अच्छा बनाया जा सकता है। उद्योग को छोडकर आज भिखमंगे कितने बढ़े जा रहे हैं। सडकों पर बैठे माग रहे है। कोई विदेशी यहा का निरीक्षण करे तो क्या समझे—भारतीय कितने भूखे हैं। क्या यह भारतके लिए शर्मकी बात नहीं? भिखमगोंको बढानेका श्रेय उन दानी महाशयोंको भी है जो स्वर्गके सीढिया लगाने के लिए पुण्य-उपार्जन करना चाहते हैं। बिना सोचे-विचारे दानका यह दुष्परिणाम है। भगवान् महावीरने कहा है—"समयम्मि वीरिय" सदाचार-सत्कार्य में सदा उद्योग होना चाहिए। श्रमण-संस्कृति का तात्पर्य —शम और सम के द्वारा शान्ति और श्रम के द्वारा सद्भाव प्रतिष्ठित करना है।

जैनों का झुकाव श्रमणसंस्कृति की ओर अधिक होना चाहिए। केवल यह कह देना कोई अर्थ नहीं रखता कि हमारे नेता बड़े क्रान्तिकारी हुए थे संसार को शान्ति का पाठ पढ़ाया था। आपके पुरखा बड़े हुए पर आप कैसे है ? क्या करते है ? यह भी तो सोचें। कहा भी है— उत्तमा स्वगुणै ख्याता —उत्तम वेही है जो अपने गुणों से विख्यात हैं। प्राचीन समय में जैनों की कितनी प्रतिष्ठा थी ! वे राज अधिकारी तक बनाये जाते थे। उनके लिए यह विश्वास था कि ये अन्याय और शोषण नहीं करते हैं हिंसा और झूठ से परे रहते हैं। क्या वह प्रतिष्ठा आज भी है ? आज जैनों को लोग अधिक दम्भी और शोषक मानते है। मैं यह नहीं मानता कि जैनेतर सभी सदाचारी है फिर भी अपने को अपना पुराना आदर्श उपस्थित करना है।

मुझे बहुधा लोग कहा करते है कि आपका साधु संघ कितना संगठित है पर जैन श्रावकों में कितना अनैक्य और कलह है। इससे मुझे बहुत दुःख होता है। जैनों को आज श्रमण-संस्कृति अपनाने का कहां अवकाश है। वे मन्दिर, मठ, आश्रमों के झगड़ों से भी निवृत्त नहीं हो पाए है। आज संगठन की मांग है। अनैक्य का वातावरण किसे दुःख नहीं। अनेक सम्प्रदायों का होना बुरा नहीं सभी एक शरीर के अवयव विशेष हैं। पर साम्प्रदायिकता नहीं होनी चाहिये। साम्प्रदायिकता बुरी है संकीर्णता बुरी है। किसी को किसीके प्रति विरोध का वातावरण

नहीं पैदा करना चाहिए। विरोध न होने पर परस्पर प्रेम व शान्ति तो होती ही है।

सभी जैन विचारों से एक बनना चाहते हैं तो इसका पहला सोपान यह होगा कि किसी की छींटाकसी न करना। अपने-अपने विचार बताने में तो किसी को अड़चन होनी ही नहीं चाहिए। विरोध से हमें घबराना नहीं चाहिए। मैंने एक पद्य में कहा भी था—

जो हमारा हो विरोध, हम उसे समझें विनोद।
सत्य-सत्य शोध में, तबही सफलता पायेंगे॥

विरोध मेरी दृष्टिमें विनोद है।,विनोदसे डरकर आदमी कुछ कर भी नहीं सकता। विरोध से हमें बहुत सफलता मिली है।

अपरिग्रह भी आज की समस्याओं को सुलझाने का बड़ा साधन है। सञ्चय न करना या सञ्चय में कमी करना इसका लक्ष्य होगा। संसार के समूचे धन को जल में बहा देने से भी कुछ नहीं होगा जबतक कि ममत्व न मिटे। "मुच्छा परिग्गहो वुत्त।" यह मेरा है—यही तो परिग्रह है जो कि जन-जन में व्याप्त है। कोई कोट्याधीश यह दम भर सकता है कि धनमें मेरा ममत्व नहीं पर वह बहाना है। यदि 'ममत्व' नहीं तो फिर वह उसे क्यों रखे? लालसा को सीमित करना चाहिए। 'इच्छा हु आगाससमा अणंतया' इच्छा आकाश के समान अनन्त है।

"पीना पानी कूप गगन का, उदर अनाज ही खाना।
सोना चांदी केती सचो, नहीं दबके मर जाना॥"

जैनों का झुकाव श्रमणसंस्कृति की ओर अधिक होना चाहिए। केवल यह कह देना कोई अर्थ नहीं रखता कि हमारे नेता बड़े क्रान्तिकारी हुए थे समाज को शान्ति का पाठ पढ़ाया था। आपके बुजुर्ग बड़े हुए पर आप कैसे हैं? क्या करते हैं? यह भी तो सोचें। कहा भी है— उत्तमा स्वगुणैः ख्याता —उत्तम वही है जो अपने गुणों से विख्यात है। प्राचीन समय में जैनों की कितनी प्रतिष्ठा थी। जब तब अधिकारी जैन बनाये जाते थे। उनके लिए यह विश्वास था कि ये अन्याय और शोषण नहीं करते हैं हिंसा और झूठ से परे रहते हैं। क्या वह प्रतिष्ठा आज भी है? आज जैनों को लोग अधिक दम्भी और शोषक मानते हैं। मैं यह नहीं मानता कि जैनेतर सभी सदाचारी हैं फिर भी अपने को अपना पुराना आदर्श उपस्थित करना है।

मुझे बहुधा लोग कहा करते हैं कि आपका साधु संघ कितना संगठित है पर जैन श्रावकों में कितना अनैक्य और कलह है। इससे मुझे बहुत दुःख होता है। जैनों को आज श्रमण-संस्कृति अपनाने का कहां अवकाश है। वे मन्दिर, मठ आश्रमों के झगड़ों से भी निवृत्त नहीं हो पाए हैं। आज संगठन की मांग है। अनैक्य का वातावरण किसे दुःखद नहीं। अनेक सम्प्रदायों का होना बुरा नहीं सभी एक शरीर के अवयव विशेष हैं। पर साम्प्रदायिकता नहीं होनी चाहिये। साम्प्रदायिकता बुरी है संकीर्णता बुरी है। किसी को किसीके प्रति विरोध का वातावरण

नहीं पैदा करना चाहिए। विरोध न होने पर परस्पर प्रेम व शान्ति तो होती ही है।

सभी जैन विचारो से एक बनना चाहते है तो इसका पहला सोपान यह होगा कि किसी की छींटाकसी न करना। अपने-अपने विचार बताने मे तो किसी को अडचन होनी ही नहीं चाहिए। विरोध से हमे घबराना नहीं चाहिए। मैंने एक पद्य में कहा भी था—

जो हमारा हो विरोध, हम उसे समझें विनोद।
सत्य-सत्य शोध मे, तबही सफलता पायेंगे ॥

विरोध मेरी दृष्टिमे विनोद है।विनोदसे डरकर आदमी कुछ कर भी नहीं सकता। विरोध से हमे बहुत सफलता मिली है।

अपरिग्रह भी आज की समस्याओ को सुलझाने का बडा साधन है। सञ्चय न करना या सञ्चय मे कमी करना इसका लक्ष्य होगा। ससार के समूचे धन को जल मे बहा देने से भी कुछ नहीं होगा जबतक कि ममत्व न मिटे। "मुच्छा परिग्गहो वुत्त।" यह मेरा है—यही तो परिग्रह है जो कि जन-जन मे व्याप्त है। कोई कोट्याधीश यह दम भर सकता है कि धनमे मेरा ममत्व नहीं पर वह बहाना है। यदि ममत्व नहीं तो फिर वह उसे क्यो रखे ? लालसा को सीमित करना चाहिए। 'इच्छा हु आगाससमा अणतया' इच्छा आकाश के समान अनन्त है।

"पीना पानी कूप गगन का, उदर अनाज ही खाना।
सोना चादी केती रुचो, नहीं दबके मर जाना ॥"

मनुष्य की स्थिति तो यह है फिर भी लालसा क्यों बढ़ी-चढ़ी रहती है। लालसा कम होने से संग्रह कम होगा। संग्रह कम होने से आक्रमण के विग्रह स्वतः टिक न सकेंगे। सुख शान्ति का यही प्रशस्त मार्ग है। वर्तमानिक समस्याओं का हल जैन दृष्टिकोण से इसीमें है। अहिंसा और अपरिग्रह के आज व्यापक प्रसार की आवश्यकता है।

ता० ४-५-४६

जैन निसी मन्दिर नईदिल्ली

वर्तमान युग और जैनधर्म

आज का युग कैसा है यह सब जानते है। युग विषम नहीं होता लोग उसे बनाते हैं। परिस्थितिया अनुकूल व प्रतिकूल होने का कारण भी लोग हैं। आज की समस्याए अनेक है। उनका सुलझाव वैज्ञानिक आविष्कारो से नहीं हो सकता। इनसे भय, आशका दिन-प्रतिदिन बढती जारही है।

आज शासक दुखी है, शासित दुखी है। पग-पग पर विषमता है। आर्थिक वैषम्य पहले था, आज भी है। धनी सुखी नहीं, गरीब से धनी अधिक दुखी है। उन्हें भय है, धन-सरक्षण की चिन्ता है। आज की समस्याओ का हल धन व सत्ता मे नहीं, अहिंसा और अपरिग्रह मे है। इन दोनों का विश्लेषण ग्रन्थों मे बहुत है और लोग सुनते है। जबतक इनका विश्लेषण जीवन के कार्यों मे न हो तबतक क्या हो सकता है?

जैन दार्शनिकों ने अहिंसा का सूक्ष्म विवेचन किया है। अहिंसा की परिभाषा प्राणीमात्र के साथ मैत्री व समता का व्यवहार करना है।

लोगोंको आशंका यह रहती है कि जैन-अहिंसा आदर्श अवश्य है किन्तु अव्यवहार्य है। उसका पालन शक्य नहीं। पानी पीने में अग्नि तथा वनस्पति के व्यवहार में भी हिंसा होती है। अहिंसा धर्म अवश्य ही सूक्ष्म है। मानव अपनी सहज कमजोरी से उसे जीवन में नहीं उतार सकता—यह बात अलग है। पर आदर्श की हत्या नहीं की जासकती। पूर्ण अहिंसा न निभा सके तो यथाशक्ति आवश्यक है। वह आदर्श नहीं जिस पर कोई न चलसके। जिस पर सब चल सके वह भी आदर्श नहीं। उसका पूर्ण अनुसरण तो कोई विशिष्ट व्यक्ति ही कर पाता है।

पूर्ण अहिंसक की गति स्थिति रहन-सहन साधारण लोगों से कुछ भिन्नकोटि का होगा। उसका वक्तव्य आत्मपरामर्श कटु नहीं सब कल्याणकारी प्रिय होगा। वह दुराचारी पर नहीं दुराचार पर कुठाराघात करेगा। विरोध सहने की उसमें पूर्ण क्षमता होगी। उसका प्रतिकार करने के लिये वह कदम नहीं उठायेगा। उसकी चर्या में त्याग-संयम का प्रामुख्य रहेगा। माधुकरी वृत्ति उसके जीवन-यापन का साधन होगी। जैन श्रमण सब कुलों में भिक्षाचरी करेगा।

वस्तुतः जातिवाद का कोई महत्त्व नहीं। जैनधर्म उदार धर्म है, उसमें संकीर्णता नहीं। वह पशु-पक्षी, प्राणीमात्र के

प्रति साम्यपूर्ण व्यवहार का निर्देश करता है। जाति से किसी को स्पृश्य-अस्पृश्य, ऊँच-नीच मानना कतई गलत है। अहिंसक का किसी पर वजन नहीं होता है। वह मठ, आश्रम के ममत्व से विमुक्त होता है।

सब व्यक्ति पूर्ण अहिंसक नहीं हो सकते, अत भगवान् महावीर ने अणुव्रतो का निर्देश किया। कम से कम मानव इरादेपूर्वक हिंसा करनेका तो परित्याग करे, जिसे 'सकल्पी हिंसा' कहते है। भारत को सकल्पी हिंसा ने बदनाम किया। हिन्दू-मुस्लिमो का सघर्ष इसीका तो प्रतीक है, जिसका कटु परिणाम आज भी आखो के सामने है। मै यह नहीं मानता कि सब व्यक्ति पूर्ण अहिंसा का पालन कर सके। राजनीति तो कूटनीति है, वह अहिंसा से कैसे चल सके। इसीलिए तो 'अणुव्रत' सबके लिए व्यवहार्य हो जाते हैं।

अनिवार्य हिंसा को अहिंसा मानना उचित नहीं। आक्रान्ताओं के प्रति होने वाली हिंसा, जीवन की आवश्यकता पूर्ति मे होनेवाली हिंसा अनिवार्य हो सकती है पर उसे अहिंसा नहीं कह सकते। अनिवार्य होने से हिंसा अहिंसा नहीं होती। उसे हिंसा मानना ही होगा। आचरण पूरा न हो सके फिर भी सम्यग् ज्ञान होना चाहिए। सम्यग् ज्ञान होने से अहिंसा के आचरण मे प्रयत्नशील बन सकेगा। अहिंसा को जीवन मे उतारने का यही प्रकार है।

एक गण्यमान्य व्यक्ति ने कहा था कि मैंने तेरापन्थ के

विरोध में बहुत सुना मन सोचा कि जिसका इतना विरोध है उसमें तथ्य जरूर है। तथ्य न होता तो विरोध भी क्यों होता।

विरोध का प्रतिकार करना मैं तो कमजोरी मानता हूं। ईट का जवाब पत्थर से देना नाचता है। मैं तो रचनात्मक कार्य में विश्वास रखता हूं।

यह साम्प्रदायिकता को भूल जाने का जमाना है। यदि लोग धर्म के नाम पर झगड़ते रहे तो खुद बदनाम होंगे और धर्म को बदनाम करेंगे। शान्ति स्थापना करनी है तो समन्वय को अपनाना होगा। मैं तो बहुधा कहा करता हूं कि सब दर्शनों में समन्वय के तत्त्व अधिक हैं विरोधी तत्त्व कम हैं। अधिक को छोड़कर कम के लिए विरोध करें झगड़े यह कहां तक उचित होगा ?

महाभारत में धर्म के लक्षण बताये हैं —

अहिंसा सत्यमस्तेयं त्यागो मिथुनवर्जनम्।

पंचस्वेतेषु धर्मेषु सर्वे धर्माः प्रतिष्ठिताः॥

और जैन-दर्शन भी यही कहता है —

अहिंस सच्चं च अतेणगं च

तत्तो य बम्भं अपरिग्गहं च।

पडिवज्जिया पंच महव्वयाणि

चरिज्ज धम्मं जिणदेसियं विदू॥

धर्म के विषय में दोनों दर्शनों में बराबर समन्वय है। सृष्टि-कर्तृत्व व ईश्वर-स्वरूप आदि के विषय में जो कुछ मत-भेद है उसे शान्ति से दूर करने का प्रयास करें। किन्तु परस्पर क्षोभ, वैमनस्य नहीं होना चाहिए। उदार भावना से विचार-विभेद दूर किया जा सकता है। शान्ति और सद्भावना का अधिकाधिक प्रसार हो, ऐसा वातावरण पैदा करना चाहिए।

आत्मानुशासन सीखिए

मैं कल जितना खुश था उतना ही आज हूं। मेरे लिए सभी दिन उत्सव के हैं, सभी दिन स्वतंत्रता के हैं। आत्मानुशासन में रहनेवाले के लिए परतंत्रता जैसी कोई वस्तु होती ही नहीं फिर आजका वातावरण मुझे कुछ विशेष बात कहने के लिए प्रेरित कर रहा है। इसलिए मुझे बीते वर्षों की तरह आज भी एक विशेष प्रवचन करना है। मेरी त्यागभरी वाणी से लोगों को कुछ लाभ मिले मैं इसके सिवाय और कुछ नहीं चाहता।

आज मुक्ति का दिन है। बन्धन टूटे मुक्ति मिली। बन्धन दुःख है मुक्ति सुख है। सुख-दुःखकी यही परिभाषा है। सर्वं परवशं दुःखम् सर्वमात्मवशं सुखम्। मैं जहांतक देखता हूं मनुष्य को मुक्ति नहीं मिली है। आन्तरिक मुक्ति के बिना मुक्ति मूल्यवान नहीं बनती। आप देख रहे हैं—स्वतंत्रता का जो उत्साह होना चाहिए वह कहां है? मनुष्यों में आज भी हिंसा की भावना

प्रबल है। लोग समझते है हिंसा से सबकुछ हो जायगा पर यह भूल है। हिंसा, भय, कायरता और अशान्ति इनका कार्य-कारण भाव है। यह साफ है—हिंसा से भय, भय से कायरता और कायरता से अशान्ति बढती है। इन सबकी जड मेरी समझ मे राजनीति का बोलबाला है। राजनीति लोगो के जरूरत की वस्तु होती होगी, किन्तु सबका हल इसीमें ढूढना भयङ्कर भूल है।

आजकी राजनीति सत्ता और अधिकारो को हथियाने की नीति बन रही है। इसलिए उसपर हिंसा हावी हो रही है। इससे समार सुखी नहीं होगा। संसार सुखी तभी होगा जब ऐसी राजनीति घटेगी। प्रेम, समता और भाईचारा बढेगा। आज लोग शान्ति के प्यासे हैं, चारों ओर यह प्रश्न है कि अमन कब होगा? आप याद रखें मैं सही कहता हू भाईचारा बढ़ेगा, अमन तब होगा। उसके लिए त्याग का आदर्श चाहिए। त्याग-बल से ही चरित्र की ऊँचाई सम्भव है। चरित्र-बल बढ़े बिना मनुष्य स्वतंत्र नहीं रह सकता। पशु-बल हमेशा डडे के नीचे रहता है। आज आप कहीं देखें चरित्र की ताकत,घट रही है। मनुष्य पशु ही नहीं बना उससे भी दो कदम आगे बढ गया। पशु प्रेरणा से ठीक तो चलता है पर आज का मानव उसे भी नहीं मानता। आवाजें खूब लग रही हैं किसलिये? चरित्र, बल बढाने के लिए, नैतिकता को जगाने के लिए। फिर भी विशेष परिणाम नहीं निकल रहा है। कारण स्पष्ट है, आवाज

लगाने वाले सम्भव है वसा नहीं करते इसमें कोई शक नहीं। जो स्वयं चरित्रवान् नहीं है वह दूसरों को चरित्रवान् नहीं बना सकेगा।

जनता के कल्याण की बातें करने वाले स्वयं अनुचित तरीकों से काम करें तब कल्याण कैसे हो? राजनीति पर सत्य अहिंसा का अंकुश रहे तभी वह ठीक चल सकती है इसके बिना वह अनीति बन जाती है। मैं मानता हूं धर्म राजनीति से परे है फिरभी राजनीति को उसकी अपेक्षा है। आप अपने राष्ट्र को जनतंत्र के ढांचे में ढालना चाहते हैं। आनेवाले चुनाव जनतंत्र के प्रमाण होंगे। भाइयों! ख्याल रखना जनतंत्र स्वार्थतंत्र बनने न पावे। आजतक कुछ ऐसा ही रूप लोगों के सामने आरहा है। शायद जनतंत्र के प्रेमियों को यह कटु लगे। कटु हो सकता है पर सत्य से परे नहीं है। आप जनतंत्र को सफल बनाना चाहते हैं तो आत्मानुशासन सीखें। ऐसी हालत में आप स्वतंत्रता का पूरा-पूरा सुखोपभोग कर सकेंगे। मेरी भाषा में स्वतंत्र वही है जो अधिक से अधिक नियमानुवर्ती रहे औरों के द्वारा नहीं अपने आप अनुशासन में चलना सीखे। चलाने से पशु भी चलता है किन्तु मनुष्य पशु नहीं है।

निकट भविष्य में लोगों के सामने चुनाव का प्रश्न है। इसलिए इसके बारे में कुछ विस्तार से कहूं ऐसी इच्छा है। मेरे पूज्याचार्य श्री कालूगणी कहा करते थे कि आचार्य एक साधु बनेगा फिर भी मैं चाहता हूं कि मेरे साधु आचार्य पदके योग्य

बनें। उनकी इस उक्तिमें जनतन्त्र के बीज हैं। जनतन्त्र में दो चार व्यक्तियों की ही योग्यता की अपेक्षा नहीं रहती। उसमें तो प्रत्येक को अपनी योग्यता का भान होना चाहिए। चुनाव होगा यह मुझे नहीं बताना है। मुझे बताना है कि उसमें आप बुराई से बचें।

अणुव्रती संघ में पहले से ही मैंने यह नियम रखा है कि प्रलोभनमें आ, किसीको मत (वोट) न दें, उसकी खास जरूरत है। आज ही क्या जनतन्त्रमें यह जरूरत रहती ही है क्योंकि निर्वाचन प्रणाली जनतन्त्रका मूल आधार है। इसीके आधार पर तन्त्र एक से हटकर अनेक का बनता है। एक की अयोग्यता में तन्त्र स्वस्थ नहीं रह सका इसलिए अनेकोंने उसे सम्भालने का यत्न किया। उनमें भी योग्य का योग नहीं बन पाया तो फिर तन्त्र की क्या गति होगी ?

शासनतन्त्र में योग्य व्यक्ति आयें आजकी अपेक्षा सिर्फ इतनी ही नहीं है। जनतन्त्र की अपेक्षा है कि प्रत्येक व्यक्ति योग्य बने। सत्ता और धन का मोह त्यागे। अपने और पराये का भेदभाव न रखे। यहीं से सच्चा जनतन्त्र निकलता है। इसीमें उसकी सफलता है। सत्ता का लोभी बनकर जो मत लेना चाहे, धन का लोभी बनकर कोई मत दे, वे दोनों जनतन्त्र के दुश्मन हैं। मुझे कहना चाहिए कि उन्हें जनतन्त्र से प्रेम नहीं है। वे जनतन्त्र के नाम से अपने अहंभाव और घर का पोषण चाहते हैं। योग्य व्यक्ति की अपेक्षा अयोग्य व्यक्ति को 'मत'

ध्याने वाले सम्भव है ऐसा नहीं करते इसमें कोई शक नहीं। जो स्वयं चरित्रवान् नहीं है वह दूसरों को चरित्रवान् नहीं बना सकेगा।

जनता के कल्याण की बात करने वाले स्वयं अनुचित तरीकों से काम करें तब कल्याण कैसे हो? राजनीति पर सत्य अहिंसा का अंकुश रहे तभी वह ठीक चल सकती है इसके बिना वह अनीति बन जाती है। मैं मानता हूं धर्म राजनीति से पर है फिरभी राजनीति को उसकी अपेक्षा है। आप अपने राष्ट्र को जनतंत्र के ढांचे में ढालना चाहते हैं। आनेवाले चुनाव जनतंत्र के प्रमाण होंगे। भाइयों! क्याहि रहना जनतंत्र स्वार्थतंत्र बनने न पावे। आजतक कुछ ऐसा ही रूप लोगों के सामने आ रहा है। शायद जनतंत्र के प्रेमियों को यह कट लगे। कटु हो सकता है पर सत्य से परे नहीं है। आप जनतंत्र को सफल बनाना चाहते हैं तो आत्मानुशासन सीखें ऐसा होने से आप स्वतंत्रता का पूरा-पूरा सुखोपभोग कर सकेंगे। मेरी भाषा में स्वतंत्र वही है जो अधिक से अधिक नियमानुवर्ती रहे औरों के द्वारा नहीं अपने आप अनुशासन में चलना सीखें। चलाने से पशु भी चलता है किन्तु मनुष्य पशु नहीं है।

निकट भविष्य में लोगों के सामने चुनाव का प्रश्न है। इसलिए इसके बारे में कुछ विस्तार से कहूं ऐसी इच्छा है। मेरे पूर्वाचार्य श्री कालूगणी कहा करते थे कि आचार्य एक साधु बनेगा फिर भी मैं चाहता हूं कि मेरे साधु आचार्य पदके योग्य

बनें। उनकी इस उक्तिमें जनतत्र के बीज है। जनतंत्र मे दो चार व्यक्तियों की ही योग्यता की अपेक्षा नहीं रहती। उसमे तो प्रत्येक को अपनी योग्यता का भान होना चाहिए। चुनाव होगा यह मुझे नहीं बताना है। मुझे बताना है कि उसमे आप बुराई से बचें।

अणुव्रती संघ मे पहले से ही मैंने यह नियम रखा है कि प्रलोभनमें आ, किसीको मत (वोट) न दें, उसकी खास जरूरत है। आज ही क्या जनतत्रमें यह जरूरत रहती ही है क्योंकि निर्वाचन प्रणाली जनतन्त्रका मूल आधार है। इसीके आधार पर तत्र एक से हटकर अनेक का बनता है। एक की अयोग्यता मे तत्र स्वस्थ नहीं रह सका इसलिए अनेकोंने उसे सम्भालने का यत्न किया। उनमें भी योग्य का योग नहीं बन पाया तो फिर तत्र की क्या गति होगी ?

शासनतत्र मे योग्य व्यक्ति आयें आजकी अपेक्षा सिर्फ इतनी ही नहीं है। जनतत्र की अपेक्षा है कि प्रत्येक व्यक्ति योग्य बने। सत्ता और धन का मोह त्यागे। अपने और पराये का भेदभाव न रखे। यहीं से सच्चा जनतत्र निकलता है। इसीमे उसकी सफलता है। सत्ता का लोभी बनकर जो मत लेना चाहे, धन का लोभी बनकर कोई मत दे, वे दोनों जनतत्र के दुश्मन हैं। मुझे कहना चाहिए कि उन्हें जनतंत्र से प्रेम नहीं है। वे जनतत्र के नाम से अपने अहभाव और घर का पोषण चाहते हैं। योग्य व्यक्ति की अपेक्षा अयोग्य व्यक्ति को 'मत'

इसलिए दिया जाय कि वह अपनी पार्टी का है—स्थिति ऐसी है तब यह अपेक्षा क्यों हो कि चुनाव में योग्य व्यक्ति हो आयें।

बुराई स्वच्छन्द होती है। वह हर जगह जा घुसती है। निर्वाचन प्रणाली भी इससे मुक्त नहीं है। चुनाव लड़नेवालों से बहुत अधिक संख्या में चुनाव लड़ाने वाले होंगे। अगर वे लालच में फंस गये चुनावों को आय का साधन मान लिया तो योग्य व्यक्तियों के आनेकी आशा दुराशामात्र है। आवश्यक प्रत्येक चेतनाशील व्यक्ति का कर्तव्य है कि इस बुराई की ओर जनता का ध्यान खींचे उसे समझाये जो व्यक्ति चांदी के चन्द टुकड़ों के लिए अपने आपको बेच सकता है वह योग्यता का सम्मान करे—ऐसी आशा नहीं की जा सकती।

म्युनिसिपल चुनाव में भी ऐसी बुराइयां कम नहीं होतीं। अब राष्ट्रव्यापी चुनाव सामने आरहा है। अनेक पार्टियां चुनाव लड़ने की तैयारी में लग रही हैं किन्तु 'मत देनेवाला विशाल जन-समूह प्रलोभन की बुराई से बचने को तैयार है या नहीं इसकी चिन्ता कौन करे ?

हमें इस बुराई को मिटाने के लिए प्रबल आन्दोलन छेड़ना चाहिये। हमारा कर्तव्य है कि मतदाता अपनेआपको न बेचें यह आवाज कम से कम उसके कानों तक पहुंचावें। मुझे आशा है इससे स्थिति बहुत सुधरेगी।

चरित्र का विकास हुए बिना योग्यता ऊंची नहीं उठ सकती। प्रत्येक जिम्मेवार व्यक्ति को चरित्रवान् होना अत्यन्त जरूरी है।

इसलिए चरित्रहीनता को खत्म करने के लिए म सब वर्गों का आह्वान करता हू और आशा करता हू कि इस पुण्य कार्य म सबका सामूहिक सहयोग होगा।

उच्च अधिकारी वर्ग सिर्फ जनता से चरित्र और संयम की अपेक्षा रखे। यह गलत रास्ता है। उन्हें अपनेआपको भी ऐसा बनाना चाहिये। वे स्वार्थ मे चलें, अपनों का भरणपोषण करने की नीति को ही चलायें तो स्थिति सुलझ नहीं सकती। मेरा सबसे अनुरोध है कि सभी लोग स्वार्थ त्याग के आदर्श पर चलें। उससे ही स्वतन्त्रता का मूल्य बढ सकता है। मुझे विश्वास है कि भारतके अध्यात्मवादी लोग अहिल्याकी पत्थरसे वापिस चेतन बनने की श्रुति को प्रमाणित करेंगे।

दिल्ली १५, अगस्त ५१

[स्वतन्त्रता दिवस के अवसर पर]

अहिंसा का आधार

अहिंसा दिवस का कार्यक्रम बड़े अच्छे ढंग से चला। विभिन्न धर्मों के प्रतिनिधियों ने अहिंसा पर अपने विचार व्यक्त किये। जनता ने बड़े धैर्य और सहिष्णुता के साथ सब बातें सुनीं। यह प्रसन्नता की बात है। धार्मिक सहिष्णुता और विचारों के विनिमय से एकदूसरे के निकट आ सकते हैं। यह उचित है।

जैसा कि मौलाना हबीबुर्रहमान ने कहा—आज रोजा का दिन है सही है। आज लाखों व्यक्ति उपवासी हैं। इन्द्रिय निग्रह और मन की शान्ति के लिए उपवास आवश्यक व्रत है। सांवत्सरिक-पर्व अहिंसा और समता का प्रतीक पर्व है। इसका अहिंसा दिवस के रूपमें उपयोग किया है। यह और भी अच्छा हुआ है।

अहिंसा के बारे में मैं भी कहूं, आलोचना के साथ-साथ समन्वय की दृष्टि से। जैसा कि गोस्वामी गिरधारीलालजी ने कहा—अहिंसा से पहले हिंसा है। शाब्दिक दृष्टि से यह ठीक है। न + हिंसा=अहिंसा। हिंसा के निषेध से अहिंसा शब्द बनता है। हिंसा को समझे बिना अहिंसा को समझना भी कठिन है। इसलिए उचित होगा कि अहिंसा से पहले हिंसा को समझलें।

व्यवहार में दूसरे को सताना, मारना हिंसा है। निश्चय में अपनी असत् प्रवृत्ति हिंसा है। इसका विपरीत तत्त्व अहिंसा है। अहिंसा किसलिए है, यह भी समझना चाहिए। क्या अहिंसा दूसरों को सुखी बनाने के लिए है? नहीं। मेरी दृष्टि में वह अपनी वृत्तियों को सुधारने के लिए है। अहिंसा से लोग सुखी बनते हैं, यह उसका प्रासंगिक फल है। मुख्य फल तो अपनी वृत्तियों का सुधार यानी आत्म-शुद्धि ही है। एक-एक आदमी सुधर जाय फिर किसी को कष्ट क्यों हो? इसलिए अहिंसा का कलेवर नकारात्मक गढ़ा गया है। वह विधेयक नहीं है सो बात नहीं किन्तु अध्यात्म-दृष्टि से 'बचाओ' की अपेक्षा 'मत मारो' अधिक व्यापक है।

अहिंसा अभय है, इसलिए कायरता या कमजोरी का इससे कोई वास्ता नहीं। अहिंसा और कायरता का वही सम्बन्ध है जो ३६ अंक में दो 'तीओं' का है। बड़ों की रक्षा के लिए छोटों को मारना हिंसा नहीं है, यह मानना अहिंसा को लज्जित करना

अहिंसा का आधार

अहिंसा दिवस का कार्य-क्रम बड़े अच्छे ढंग से चला। विभिन्न धर्मों के प्रतिनिधियों ने अहिंसा पर अपने विचार व्यक्त किये। जनता ने बड़े धैर्य और सहिष्णुता के साथ सब बातें सुनीं। यह प्रसन्नता की बात है। धार्मिक सहिष्णुता और विचारों के विनिमय से एक-दूसरे के निकट आ सकते हैं। यह उचित है।

जैसा कि मौलाना हबीबुर्रहमान ने कहा—आज रोजा का दिन है सही है। आज लाखों व्यक्ति उपवासी हैं। इन्द्रिय निग्रह और मन की शान्ति के लिए उपवास आवश्यक व्रत है। साम्वत्सरिक-पर्व अहिंसा और समता का प्रतीक पर्व है। इसका अहिंसा दिवस के रूपमें उपयोग किया है। यह और भी अच्छा हुआ है।

अहिंसा के बारे मे मैं भी कहूं, आलोचना के साथ-साथ समन्वय की दृष्टि से। जैसा कि गोस्वामी गिरधारीलालजी ने कहा—अहिंसा से पहले हिंसा है। शाब्दिक दृष्टि से यह ठीक है। न + हिंसा=अहिंसा। हिंसा के निषेध से अहिंसा शब्द बनता है। हिंसा को समझे बिना अहिंसा को समझना भी कठिन है। इसलिए उचित होगा कि अहिंसा से पहले हिंसा को समझलें।

व्यवहार मे दूसरे को सताना, मारना हिंसा है। निश्चय मे अपनी असत् प्रवृत्ति हिंसा है। इसका विपरीत तत्त्व अहिंसा है। अहिंसा किसलिए है, यह भी समझना चाहिए। क्या अहिंसा दूसरो को सुखी बनाने के लिए है? नहीं। मेरी दृष्टि मे वह अपनी वृत्तियों को सुधारने के लिए है। अहिंसा से लोग सुखी बनते हैं, यह उसका प्रासंगिक फल है। मुख्य फल तो अपनी वृत्तियो का सुधार यानी आत्म-शुद्धि ही है। एक-एक आदमी सुधर जाय फिर किसी को कष्ट क्यो हो? इसलिए अहिंसा का कलेवर नकारात्मक गढ़ा गया है। वह विधेयक नहीं है सो बात नहीं किन्तु अध्यात्म-दृष्टि से 'बचाओ' की अपेक्षा 'मत मारो' अधिक व्यापक है।

अहिंसा अभय है, इसलिए कायरता या कमजोरी का इससे कोई वास्ता नहीं। अहिंसा और कायरता का वही सम्बन्ध है जो ३६ अक मे दो 'तीओं' का है। बड़ों की रक्षा के लिए छोटों को मारना हिंसा नहीं है, यह मानना अहिंसा को लज्जित करना

है। कई दर्शन प्राणीमात्र को ईश्वरीय अंश मानते हैं तो कई चैतन्य की दृष्टि से जीवमात्र को समान मानते हैं।

मारे बिना रहा नहीं जा सकता यह बात और है किन्तु वह अहिंसा कैसे? कुछ न कुछ रूपमें हिंसा के बिना काम नहीं चलता इसका अर्थ यह नहीं होता कि मनुष्य हिंसा को अहिंसा माने। हिंसा न छोड़ सके यह मानवीय जीवन की कमजोरी है पर उसे अहिंसा मानने की दोहरी गलती क्यों करे? यह समझ में नहीं आता।

भगवान महावीर ने हिंसा के दो भाग किये हैं—हिंसा और आक्रामक हिंसा। हिंसा को न छोड़ सके तो कमसेकम आक्रान्ता तो न बने शोषण तो न करे। हिंसा और अहिंसा को केवल भावनाश्रित ही मानना उचित नहीं। कार्यों से भी उनका औचित्य अनौचित्य का सम्बन्ध जुड़ता है। जैसा कि श्री गुलजारीलालजी नन्दा ने अभी कहा था कि अहिंसक को अपने योग्य कर्तव्यों की भी एक सूची रखनी होती है। जिस हिंसा के बिना काम न चले उसको अगर अहिंसा माना जाय तो फिर किसान की तरह धीवर को भी अहिंसक क्यों न माना जाए? मच्छीमार समाज के लिए ही तो मछलियों का व्यापार चलाता है। शाकाहारी के लिए जो स्थान किसान का है वही मांसाहारी के लिए धीवर का है। सही अर्थ में तो दोनों ही अपनी आजीविका के लिए काम करते हैं। आजीविका न मिले तो न किसान खेती करे और न मच्छीमार मछलियां पकड़े।

हिंसा खेती मे भी होती है और मछली पकडने मे भी। खेती के लिए बन्दर भी मारे जाते है। खैर, मेरा तात्पर्य यही है कि आवश्यक हिंसा को अहिंसा मानने की भावना क्यो ? यह मनुष्य की कमजोरी है। वह अपने कार्य को ठीक नहीं तौलता।

सम्पूर्ण अहिंसा जीवन मे न उतर सके तो कम से कम विवेक तो ठीक होना चाहिए। हिंसा करनी पडती है इसके बदले 'अहिंसा करता हू' यह तो नहीं समझना चाहिए। अपनी रक्षा के लिए भी शत्रुपक्ष को मारना अहिंसा नहीं है। आक्रान्ता को मारकर आप हिंसा मिटाना चाहे, यह अहिंसा का तरीका नहीं। किसी को मारकर आप अन्याय का प्रतिकार कर सकते है, जो कि सामाजिक व्यवस्था मे न्याय माना गया है किन्तु अहिंसक नहीं बन सकते। अहिंसा तो उसके तरीके से ही हिंसा का सामना करने से हो सकती है। धर्म के लिए हिंसा हो वह अहिंसा है—मुझे ये शब्द बिलकुल नहीं भाते। धर्म स्वय अहिंसामय है उसके लिए हिंसा, यह क्या ? थोडे मे यही समझो कि आत्म-साधना के क्षेत्र मे परिपूर्ण अहिंसा है। भौतिक सरक्षण मे आप सब जगह अहिंसा से सफल हो सकते है, यह सम्भव नहीं, किन्तु उसके लिए बढती गई हिंसा को अहिंसा माने यह गलत दृष्टिकोण है।

अहिंसा गृहस्थ-जीवन मे कैसे उतरे, इस पर भी कुछ कहना है। इस पर कॉन्स्टीट्यूशन क्लब मे प्रवचन के समय भारतीय लोकसभा के उपाध्यक्ष श्री अनन्तशयनम् आयगर ने भी

जिज्ञासा की थी। जीवन का क्षेत्र बहुत व्यापक है। उसमें कामों की बड़ी शृंखला है। थोड़े में दो एक बातों की ओर संकेत करता हूं। दिशासूचन से मार्ग दूर नहीं रहता।

व्यापार-क्रय विक्रय, आदान प्रदान समाज के लिए आवश्यक होता है। यह अहिंसामय है यह तो नहीं कहा जा सकता किन्तु उसमें अन्याय न करें शोषण न करें कूट-तोल माप न करें झूठा दस्तावेज न बनायें, मिलावट न करें विश्वासघात न करें—इनसे आत्म-पतन होता है इसलिए न करें। यह व्यापार के क्षेत्र में अहिंसा का प्रयोग है। किसी भी हालत में हिंसा अहिंसा हो सकती है एक अहिंसक होने के नाते मैं यह नहीं मान सकता।

युद्ध हिंसा का परिणाम है चाहे वह किसी रूप में हो उसमें भी अहिंसा बरती जा सकती है। युद्ध अहिंसा नहीं किन्तु उसमें अहिंसा के लिए बहुत बड़ा क्षेत्र खुला है जैसे—आक्रान्ता न बने निरपराध को न मारें कम से कम नागरिकों को तो न मारें अपराधियों के प्रति क्रूर व्यवहार न करें।

सतीत्व की रक्षा का भी एक प्रश्न है। उसका अहिंसक रूप आत्म-बल है। सती अपनी आत्म-शक्ति से ही अत्याचार को रोके। यदि उसका बल न चले तो वह समता के साथ शरीर त्याग करदे। दूसरा कोई व्यक्ति पास में हो तो उसका कर्तव्य यही है कि बलात्कारी को समझाये हृदय बदलने की चेष्टा करे। उसके लिए मृत्यु भी होजाय तो कोई बात नहीं। अहिंसा का

मार्ग तो इतना ही है। कोई धृष्ट व्यक्ति अहिंसक प्रयोग की अवहेलना करे तो वहा सामाजिक प्रतिकारका भी आश्रयण होता है। किन्तु वह अहिंसा से नहीं जुड़ता।

अहिंसा ही एक मात्र शान्ति का मार्ग है। हिंसा शान्ति-साधना मे पूर्ण विफल रही है और रहेगी। इसलिए शान्ति-प्रेमी व्यक्तियो से मे अनुरोध करता हू कि वे अहिंसा को विकसित करने की चेष्टा करें।

परिस्थितिवश असत्य बोलना धर्म और सत्य बोलना अधर्म होता है यह दृष्टिकोण भी सही नहीं है। शिकारी को हिरन के बारे मे उत्तर देने जैसे प्रसगों मे हिंसा से बचाव करने का उपाय असत्य बोलना नहीं किन्तु मौन है। इधर से हिरन गया या न गया कुछ भी न बोले।

हिंसा के लिए भी यही बात है। परिस्थितिवश हिंसा-अहिंसा नहीं बनती। यह जरूर है कि परिस्थितिवश मनुष्य हिंसोन्मुख बन जाता है।

अहिंसा का साधन हृदय-परिवर्तन ही है, बलात्कार नहीं। सुख का साधन बने या न बने, कम से कम दु ख का साधन तो न बने, सतापहारी बने या न बने, कमसे कम सतापकारी तो न बने।

[ता०-६ ६-५१ को दिल्ली में आयोजित
अहिंसा-दिवस के अवसर पर]

उत्तरदायित्व का परीक्षण

भाद्रशुक्ला नवमी का दिन मेरे उत्तरदायित्व का दिन है। लोग समझ रहे हैं मेरा अभिनन्दन हो रहा है और मैं मानस मग्न हो रहा हूं। जिम्मेवारी लेना आसान है किन्तु उसे निभाना कितना कठिन है इसे वही समझता है जिसपर वह होती है।

मैं देखता हूं तीन वर्षों से ठीक इस दिन वर्षा होती आ रही है, आज भी हुई, इसलिए कार्य-क्रम में कुछ विलम्ब भी हुआ है किन्तु लोगों के लिए यह भी इस उत्सव में एक दूसरा उत्सव है। हाँसी चातुर्मास में मैंने पिछले वर्ष का लेखा-जोखा लोगों के सामने रखा था। इस वर्ष का सिंहावलोकन आज करना है।

यह वर्ष लक्ष्य सिद्धि की दृष्टि से बड़ा सफल रहा है। कार्य-सम्पादन में मेरा साधु-रूप तो सहयोगी है ही किन्तु गृहस्थों ने भी बड़ी तन्मयता से निरवद्य सहयोग किया है क्योंकि

आखिर अकेला व्यक्ति क्या कर सकता है? सबका सहयोग हो तभी काम ठीक चलता है। इस वर्ष की मीलों लम्बी यात्रा में मेरा प्रमुख कार्य-क्रम रहा—विभिन्न वर्गों के व्यक्तियों से निकट-सम्पर्क। इसके दौरान में मने सर्व-धर्म-सम्मेलन किये कि आज धार्मिक लोग द्वेष-भावनायें भुलाकर एक दूसरे के निकट आयें, यह समय की माग है। मुझे खुशी है कि वे बड़े सफल रहे। प्राय प्रमुख धर्मों के प्रतिनिधि उनमें आये, अपने विचार व्यक्त किये। सबको एक दूसरे के विचारों को जानने का मौका मिला।

जैन-एकता की दृष्टि से जैन-सम्मेलन भी किये। जैनों को आपस में कैसे समन्वय दृष्टि से कार्य करना चाहिए इस पर काफी विचार-विमर्श हुआ। मेरा विश्वास है कि उस दिशा में भी प्रगति हुई है।

स्कूलों, कालेजोंमें भाषणोंका ताता जुड़ा रहा। आध्यात्मिक, नैतिक और व्यावहारिक प्रश्नोत्तर होते, उसके सहारे मैंने विद्यार्थी-मानस का अध्ययन किया और यह अनुभव किया कि वे आज योग्य शिक्षा नहीं पा रहे हैं।

व्यापारी, वकील और महिला इनके भी सम्मेलन हुए। अणुव्रत-सम्मेलन के बिना शायद कोई शहर बाकी नहीं रहा होगा। लोगों को अणुव्रतों की आवश्यकता समझाई गई। कॉन्स्टीट्यूशन क्लब में भी प्रवचन किया। वहा संसद् के सदस्यों को नैतिकता के पुनर्निर्माण की प्रेरणा दी।

मुझे प्रसन्नता है कि मैं जिस पथपर चला हूं उसमें सफल हुआ हूं। कोईभी एक व्यक्ति सबको अपने विचारों के अनुकूल बना सके, यह कठिन है। नैतिक पथपर कम लोग आते हैं इससे हमें निराश होने की जरूरत नहीं। हमारी विचार धारा सही है। हमारा प्रयास भाग पर है।

नैतिकता का यह प्रयास मैं ही नहीं मेरे साधु-साध्वियां व ११५ सिंघाड़े (ग्रुप्स) भारत के कोने-कोने में कर रहे हैं। मन जगह जगह से आये हुए बड़े उत्साह वर्द्धक समाचार सुन है। यह कार्य चल रहा है इसमें कोई गर्व नहीं। हमने किया तो आखिर किया क्या अपना कर्तव्य ही तो पाला।

आप यह जानते हैं कि मैं एक संस्था का संचालक हूं। उसका नेतृत्व मेरे जिम्मे है। यह एक बड़ी धार्मिक संस्था है। इसके पीछे २ वर्षों का इतिहास है। इसकी अपनी परम्परायें हैं। लाखों अनुयायी हैं सभी तरह के हैं। सब एक आचार्य के नेतृत्व में हैं। आचार्य के विचारों के अनुकूल चलनेवाले हैं। फिर भी 'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना' यह होता है। कई लोग मुझसे कहते हैं आप साधुओं को गली-गली मुहल्ले-मुहल्ले में व्याख्यान देने को भेजते हैं क्या इससे हमारे साधुओं की प्रतिष्ठा में कमी नहीं आती? मैं समझता हूं वे कहनेवाले हुए हैं। वस्तुस्थिति को ठीक नहीं आंकते। प्रथम पूज्य आचार्य भिक्षु का महान् आदर्श मेरे सामने है। उन्होंने साधुओं से कहा—"जाओ धर्म का प्रचार करो। लोगों को समझ कम

मिलता हो तो दूकानो मे चले जाओ। वहाँ बठ जाओ, जब दूकान के कार्य से अवकाश मिले तब उन्हे समझाओ। धर्म का उपदेश दो।

देखा आपने यह कैसी धारा है। मुझे इससे अटूट बल मिलता है। मै इसी अवलम्बन पर चलता हू। गल्ती होना सम्भव है। मे नहीं मानता कि छद्मस्थ से गल्ती होती ही नहीं। किन्तु जहाँतक म अनुभव करता हू मे भूलपर नहीं हू, भूल न हो इसीमे सफलता है। जनता ने इस नैतिक कदम को कैसे आका, यह भी देखा। मे इस निष्कर्ष पर पहुचता हू कि जनता ने सही आका है।

आजका युग राजनैतिक युग है। लोग जितनी दिलचस्पी राजनीति मे लेते है, उतनी नैतिकता मे नहीं लेते।

हमारा दृष्टिकोण केवल प्रचारात्मक नहीं है। हमारा प्रचार भी आचार-मूलक होना चाहिये। राजनीति का बोलबाला रहेगा तबतक स्थिति सुधरेगी नहीं। उसमे त्याग और चारित्र को प्रश्रय मिलेगा तभी लोग शान्ति की सास लेसकेंगे। जो लोग सफल सैनिक की भाँति नैतिकता के सग्राम मे उतर आये है, उन्हें कठिनाइयों का सामना करना पड रहा है किन्तु फिर भी वे अपने पथपर अडिग हैं। यह उनके साहस का परिचय ह।

मैं कार्यकर्ताओ से भी कहूँगा कि जहाँ नामके लिये काम की भावना होती है वहाँ दोष बढ जाते है किन्तु जहाँ काम के लिये काम की भावना होती है वहा कोई बुराई नहीं पनपती।

तेरापन्थी श्रावकों को इस धार्मिक यज्ञ में अधिक योग देना चाहिये। उनपर इसका विशेष उत्तरदायित्व है—मेरा सच्चा अभिनन्दन तभी है।

[ता ९ ९-५१ को दिल्ली में आयोजित
पट्टोत्सव के अवसर पर]

धर्म और कला

"सव्वं विलविअं गीअं, सव्वं नट्टं विडंविअं
सव्वे आभरणा भारा, सव्वे कामा दुहावहा।"

"सब गीत विडम्बनाएँ हैं, सब नाट्य विडम्बनाएँ हैं, सब आभरण भार हैं, सब काम दुःखदायी हैं।" यह है भगवान् महावीर की वाणी।

लोग चौंकेंगे, धर्म-परिषद् में नाट्यकला, संगीतकला के बारे में कोई भाषण क्यों दे? पहले चौंकें नहीं, पूरा सुनलें। भगवान् महावीर ने दूसरी ओर यह भी कहा है—सब कलाएँ क्षयोपशम भाव है, चाहे फिर संग्राम की कला भी क्यों न हो।

भाव तीन प्रकार के होते हैं—ज्ञेय, हेय और उपादेय। हेय, उपादेय की सीमा होती है किन्तु ज्ञेय सभी भाव हैं। जब हमने यह स्वीकार करलिया कि सभी भाव ज्ञेय हैं तब संगीत

और नाट्य का धर्म के साथ सम्बन्ध है या नहीं यह कहने और सुननेमें क्या दोष है ? हाँ एक टक्कर अवश्य होती है। एक ओर तो संगीत को विडम्बना और दूसरी ओर क्षयोपशम भाव—निरावरण दशा कहा। भगवान की वाणी में यह विरोध क्यों ? थोड़ी गहराई में जाय तो विरोध जैसी कोई बात ही नहीं।

वह संगीत विडम्बना है जो विलासितामय है जो संगीत साधनामय हो वह विडम्बना नहीं उपादेय है। भगवान् महावीरके उपदेश संगीतमय होते थे। आज भी हम व्याख्यानमें संगीतका उपयोग करते हैं। हमें स्याद्वाद को नहीं भूल जाना चाहिए। वे सब संगीत विडम्बना हैं जो विलासितामय हैं।

तो क्या संगीत की भांति नाट्य भी उपादेय हो सकता है ? हाँ हो सकता है। लोग सोचते होंगे—यह तो आज बिल्कुल नई बात सुनी। किन्तु नई क्या पुरानी ही है आप ध्यान नहीं देते इसलिए भले ही नई लगे। स्वाध्याय करते-करते सिर घूमने लग जाते हैं। भक्ति में व्याख्यान सुनने में तन्मयता आजाती है तब समूचा शरीर डोलने लग जाता है। यह क्या है ? नाट्य नहीं है क्या ? नाट्य का मतलब सिर्फ खड़ा होकर नाचना ही थोड़ा है। व्याख्यान देते समय वक्ता हाथ मुँह आदि अवयवों के द्वारा भाव प्रदर्शन करते हैं यह क्या है ? नाट्य का ही तो

---

१ एक व्यक्ति ने धर्म ग्रन्थ पर शंका की जिसका उत्तर देते हुए आचार्य श्री ने कहा।

एक अंग है। वक्ता अगर प्रस्तर मूर्ति की तरह खड़े होकर वक्तव्य दे तो मैं समझता हू वह कुछ भी सफल नहीं हो सकता।

मैं स्वयं जब स्वाध्याय करते करते तन्मय बन जाता हू तब समूचे शरीर मे स्पदन हो जाता है।

एक दृष्टि से देखें तो काव्य प्रकारान्तर से नाट्य ही है। कोई काव्य देखाजाता है और कोई सुनाजाता। हा, वह नाट्य विडम्बना है जो विलासी भाव उगलते है, लोगों को दिखाने के लिये खेले जाते है।

सब आभरण भार हैं। शील भी तो एक आभरण है, क्या वह भी भार है ? सभी काम दु खद हैं। काम यानी इच्छा, क्या आत्म-उन्नति की इच्छा भी दु खद है ? नहीं। बुद्धि में आग्रह नहीं होना चाहिये। वस्तुस्थिति को ठीक ढगसर समझना चाहिये।

सुनने का तात्पर्य तो यही है कि सुनकर प्रत्येक बात को समझें। उसमे जो उपादेय हो वह लें, जो फेंकने योग्य हो वह फेंकदें। जैन दृष्टिकोण इस विषय मे बड़ा उदार है। आगम सूत्रों मे लिखा है—कोई भी ग्रन्थ अपनेआप मे न मिथ्या है और न सम्यक्। बौद्ध, वेदान्त, मीमासा, सांख्य, नैयायिक, पूर्वी या पश्चिमी कोई भी दर्शन हो, कोई भी शास्त्र हो जो सम्यग्-दृष्टि द्वारा गृहीत है वह सम्यक्-श्रुत है और मिथ्यादृष्टि द्वारा गृहीत है वह मिथ्या-श्रुत। कोई चीज जानने मे तो आपत्ति हो ही क्या सकती है ?

हमारे अनुयोगद्वार सूत्र में संगीत का बड़ा लम्बा चौड़ा वर्णन है। राजप्रश्नीयसूत्र में नाटय का सांगोपांग वर्णन है। और भी आगम-शास्त्रों में कला का जगह जगह वर्णन है। यदि वह हमारे लिये अमान्य ही होती तो क्यों लिखा जाते ? कला वस्तु क्या है ? बैठने में कला उठने में कला बोलने में कला प्रत्येक कार्य में कला। सभा में आये और सभा की कला न जाने तो वह सभ्य कैसे हो सकता है ? पीछे से आये और बैठना चाहे सबसे आगे यह क्या है ? सभा की कला को न जानने का परिणाम है।

हमारे शासन में कला के लिए बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। इस विषय में हम पूज्यपाद आचार्य्य के बड़े ऋणी हैं। उन्होंने प्रत्येक क्षेत्र में साधु-संघ को कलामय बनाया। साधुओं को स्वावलम्ब्य कला की भी जरूरत पड़ती है। वे अपने उपयोग की सब चीजें उसके द्वारा बनाते हैं। लिपिकला में हमारे साधु साध्वियों ने सफल विकास किया है। एक पत्र में अढ़ाई हजार श्लोक—अस्सी हजार अक्षर लिखना दुनिया के आश्चर्यों में से एक बड़ा आश्चर्य है। इसमें तन्मयता की सघनता के दर्शन होते हैं। वह साधना की स्थिरता का एक सजीव प्रमाण है।

काव्य-कला में हमारे साधु बड़ा रस लेते हैं। आशु कविता उनके होठों पर खेल रही है। जैसे बातें करते वैसे श्लोक रचते हैं कोई दुविधा नहीं। चित्रकला में भी बहुत प्रगति हुई है। मैं अभी पर्याप्त तो नहीं मानता फिरभी तुलनात्मक दृष्टि

से आगे से आगे विकास नजर आरहा है। संगीत में भी साधुओं की अभिरुचि है, यथेष्ट विकास कर रहे है।

लोगों का दृष्टिकोण उदार होना चाहिए। ज्ञान की सीमा संकुचित नहीं होनी चाहिए। वास्तविकता को समझने की चेष्टा होनी चाहिए। लोग सही स्थिति को बहुत कम आकते हैं।

सुनाजाता है कि आजकल सिनेमा आदि का उद्देश्य भी शिक्षा देना है किन्तु यह उद्देश्य है कहाँ, समझ मे नहीं आता। बनानेवालों और चलानेवालो का उद्देश्य दीखता है— "भज कलदारम्, भज कलदारम्।" प्राय सिनेमा और नाटक विलासिता के अड्डे बनरहे है। उनमे आज विलासिता की बाढ सी आरही है। आप भूले नहीं होंगे जो सगीत, नाट्य या कला शुभयोगमय नहीं है, आत्मविकास के पोषक नहीं हैं, वे सब विडम्बनाएं हैं। इसलिए फिर एकबार उसी वाक्य को याद कीजिये—

> *"सव्वं विलंबिअं गीअं, सव्वं नट्टं विडंबिअं*
> *सव्वे आभरणा भारा, सव्वे कामा दुहावहा।"*

[ता० २३-१०-५१ को दिल्ली में आयोजित विचार-परिषद् के अवसर पर]

आध्यात्मिक प्रयोगशाला—दीक्षा

मनुष्य का जीवन ज्ञान विज्ञान की एक बहुत बड़ी प्रयोगशाला है। इसमें इतने प्रयोग हुए हैं कि जिनका शतांश भी नहीं पकड़ा जा सकता। जितनी अभिरुचियां हैं उतने ही प्रयोग। यह एक बड़ी कहानी है। थोड़े में इनकी दो मुख्य धाराएं रही हैं—शारीरिक और आत्मिक। शारीरिक प्रयोग की चर्चा में मुझे यहां नहीं जाना है। आध्यात्मिक प्रयोग के बारे में कुछ बताऊं—ऐसा संकल्प है।

आत्मिक प्रयोगों की आधारभूमि है—अन्तरङ्ग शुद्धि। इस पर चलनेवाला अपने को अपनी भाषा में साधक बताता है। जनता की भाषा भी उसके लिए यही है। साधना नैतिक क्षेत्र में भी चलती है किन्तु वह सीधा सहज और स्वत प्रिय कार्य है इसलिए वहां साधना शब्द की प्रवृत्ति नहीं होती। अपनी

खोज दूसरे शब्दों में अपना नियंत्रण सहज होना चाहिए किन्तु है नहीं। उसके लिए बड़े-बड़े प्रयत्न करने पड़ते हैं। यही कारण है कि उसके लिए 'साधना' शब्द का एकतंत्र प्रयोग होता है। 'साधना का मार्ग टेढ़ा है' यह कहते ही आत्म-संयम की तस्वीर आँखों के सामने खिंच जाती है।

साधना के दो मार्ग

साधनाका क्षेत्र खुला है। उसका छोटा रूप अणु जितना है तो बड़ा रूप अखंड विश्व जितना। साधनाका मुख्य मार्ग योग है। योग का अर्थ है जुड़ना। जो अपनी वृत्तियों को आन्तरिक विशुद्धि से जोड़ले, वही तो योगी है। इसीका नाम जीवन-मुक्तदशा है। जो जीता हुआ मुक्त है, इसका अर्थ यह होगा कि वह निष्क्रिय नहीं है। जीवन चलाने की आवश्यक प्रवृत्तियाँ करता है किन्तु उनमें अनासक्त रहता है। वह खाता है किन्तु उसका खाना खाने के लिए नहीं, सिर्फ निर्वाह के लिए होता है।

अनासक्ति अपनी आत्मीय वृत्ति है। वह बाहरी उपकरणों से दबी रहती है। मनुष्य जानता ही नहीं, अच्छी तरह से जानता है कि सोना-चाँदी मुझसे भिन्न वस्तु है, फिरभी वह उनमें बँधजाता है। बँधता भी इतना है कि उनका संग्रह करते-करते वह तृप्ति का अनुभव भी नहीं करता। यही एक कारण है कि जिनमें अनासक्ति का भाव प्रबल होजाता है वे बाहरी उपकरणों को यानी धन, धान्य, आदि जीवन निर्वाह के साधनों को त्यागकर पूर्ण अकिञ्चनता की ओर कूच कर देते हैं।

यहां आकर साधना के क्षेत्र में दो रेखायें खिच जाती हैं—गृहस्थ-साधक और संयमी-साधक। गृहस्थ के लिए अणुव्रत है। आज के युग में अणुव्रत-दीक्षाका भी कम महत्त्व नहीं है महाव्रत-दीक्षा का तो है ही।

दीक्षा वही है जो पूर्ण संयमकी साधनाका व्रत है। जैन-धर्म इस प्रक्रियाको कैसे सम्पन्न करता है यह वर्तमान के लिए मैं जैन-दीक्षाकी कुछ विशेषताको आवश्यक समझता हूं। विभिन्न धर्मोंकी दीक्षा-प्रणालियां विभिन्न हैं इसलिये आवश्यक होता है कि मैं आपको जैन धर्मकी दीक्षा स्थितिसे परिचित कराऊं। जैन-दीक्षा का अर्थ है—सब सावद्य त्याग—आत्म-मुक्ति की बाधक प्रवृत्तियों का त्याग। इन्हें पांच भागोंमें बांटा है —

जैन-दीक्षा

१ हिंसा—असत् प्रवृत्ति, असत् भाषा असत् विचार, मिथ्या आग्रह।

२ असत्य—अन्यथा कहना, भाव-कुटिलता भाषा-कुटिलता कहनी-करनी में अन्तर।

३-चोरी—परवस्तु लेना अधिकार छीनना ठगना।

४-अब्रह्मचर्य—संभोग मन वाणी और शरीर को असंयम।

५-परिग्रह—ममत्व धन धान्य का संग्रह, आसक्ति।

दीक्षाका इच्छुक व्यक्ति गुरुकी साक्षीसे आजीवन

इन्हें छोडने की प्रतिज्ञा लेता है—पाच महाव्रत स्वीकार करता है—

१-अहिंसा—मैं आजसे आजीवन मनसा, वाचा, कर्मणा हिंसा न करूंगा, न कराऊंगा और न करते हुए को अच्छा समझूंगा।

२-सत्य—मैं आज से आजीवन मनसा, वाचा, कर्मणा न असत्य बोलूगा न बुलाऊँगा और न बोलनेवाले को अच्छा समझूगा।

३-अचौर्य्य—मैं आजसे आजीवन मनसा, वाचा, कर्मणा न चोरी करू गा, न कराऊँगा और न करते हुए को अच्छा समझूगा।

४-ब्रह्मचर्य्य—मैं आजसे आजीवन मनसा, वाचा, कर्मणा न अब्रह्मचर्य्य का सेवन करूंगा न कराऊँगा और न करते हुए को अच्छा समझूगा।

५-अपरिग्रह—मैं आजसे आजीवन मनसा, वाचा कर्मणा परिग्रह न रखूगा न रखाऊंगा न रखते हुए को अच्छा समझूगा।

दीक्षा जीवन का महान् आदर्श है। चिरसचित शुद्ध सस्कारों बिना इस ओर मनुष्य का मन ही नहीं जाता। आजके भौतिक वातावरणमे जहा चारों ओर वासना-पूर्ति की होड लगरही है वहा वासना को ठुकरानेवालों की मनोवृत्ति कितनी ऊची है, जरा ध्यानसे

सुख-शातिका पथ-दर्शन

देखिए। इच्छाओं और आवश्यकताओं को ज्यों-ज्यों पूरा करता ही मनुष्य अपना स्वत्व मान बढ़ा है। इस हालत में मन सबको कुचलकर सुख-शान्ति में रहनेवाला संयमी क्या शेष व्यक्तियों के लिए पथ-दर्शक नहीं बनता ? बनता है अवश्य बनता है।

आज के अशान्त संसार को त्याग के आदर्श की सबसे अधिक आवश्यकता है। मनुष्यकी अशान्ति का मूल कारण आकांक्षाकी अ-सीमा है। जिस गतिसे महत्त्वाकांक्षा बढ़ रही है आखिर वह कहां रुकेगी ?

विश्व की शान्ति किस ओर ?

अगर रुकेगी ही नहीं तो इसका परिणाम क्या होगा ? यह प्रश्न क्यों नहीं उठता ? कोई साम्राज्य विस्तार का लिप्सु है तो कोई अपने अधिकारों को सार्वभौम बनाने की लगन में है। कोई धनके बलपर, कोई सत्ता के बलपर, कोई शस्त्रास्त्र के बल पर, दूसरों पर हावी होने की बात सोच रहा है।

दुनिया अपने अधिकारोंको अपने तक ही सीमित कर रखने में सन्तोष नहीं मान रही है। यही अशान्ति का बीज है। दीक्षा का आदर्श है—"अपने आपमें रमण करना। क्या ही अच्छा हो आज का संसार इस आदर्श को देखना चाहे।

अशान्ति से झुलसते हुए संसार को आज सबसे अधिक शान्ति की प्यास है। सुख गरीब मजदूर शासित और शोषित को नहीं है तो शान्ति अमीर मालिक शासक और शोषक को भी नहीं है यानी

विश्व शान्ति और दीक्षा

किसीको भी नहीं है। भौतिक सुखका मार्ग सामाजिक व्यवस्था के उलट-पुलट से शायद मिलभी जाये किन्तु शान्ति का मार्ग आध्यात्मिक जागृति के सिवाय दूसरा कोई है ही नहीं। दीक्षा उसका एक उत्कृष्ट रूप है—राजपथ है। सामान्य जीवन मे उससे प्रेरणा मिलती है।

देखिए—वह जीवन कितना पवित्र जीवन है जिसमे अमीरी नहीं, गरीबी नहीं, मजदूर-मालिक, शासक-शासित आदि का कोई भाव नहीं, दीक्षा का छाया-चित्र भी जनता के मानस पट पर खींचा रहे तो निश्चय ही स्वार्थकी टक्करें, पदप्रतिष्ठाकी भूख, नाम और बडप्पन की लालसा, अधिकार और सत्ता का भार, शोषण और सग्रहका जुआ, सत्ता और कूटनीति का उन्माद दूर होजाय। विश्व फिर एकबार शान्तिकी शिशिर सास लेसके।

तेरापन्थ में दीक्षा और अनुशासन

हमारे यहा एकमात्र आचार्य्यको ही दीक्षा देनेका अधिकार है। इसका कारण है - शिष्य लोलुपता न बढे, अयोग्य दीक्षा न हो। दीक्षित होनेवाला व्यक्ति विरक्त साधनाके उचित नियम व तत्त्वोका जानकार होना चाहिए। घरके सगे-सम्बन्धियों की लिखित व मौखिक स्वीकृति मिलनेपर ही दीक्षा दी जासकती हैं, अन्यथा नहीं।

दीक्षार्थी की भावना की पूरी जांच होती है। प्राय कई वर्षों की कठोर परीक्षा के बाद दीक्षा-कार्य्य सपन्न होता है। दीक्षित होने के बाद वह किसीपर भार नहीं बनता।

हमारे साधुओं का जीवन बहुत से कामों मे स्व-निर्भर है।

समाज से केवल थोड़ा-बहुत आहार-पानी ग्रहण किया जाता है। वह भी अतिरिक्त नहीं। उनकी आवश्यकताओं का एक छोटा हिस्सा वह भी ऐसा कि जिसके बदलेमें वे संयम का उसकी पूर्ति न करें। साधुओं का जीवन अध्ययन अध्यापन चारित्र्य-व्याख्यान धर्मोपदेश लेखन साहित्य निर्माण आदि सत्प्रवृत्तियों में लगता है। अपनी और पराई भलाई का स्वरूप भिन्न हुए में महापथ के पथिक दुनियाके लिए प्रकाश-पुंज का काम करते हैं इसमें कोई सन्देह नहीं।

इस पवित्र भूमिका पर होनेवाली दीक्षाएं भारतीय संस्कृति को अक्षुण्ण बनाये रखती हैं। जनता को चाहिए कि वह इस महान् सांस्कृतिक परम्परा का सही मूल्य आंके।

[ता० ११ ११ ५१ को दिल्ली में आयोजित
दीक्षा-समारोह के अवसर पर]

जीवन-कल्प की दिशा

जीवन सूना होता है। जीवन के काम सूने होते है। समझने की हविश नहीं उठती, जबतक चारों ओर अन्धेरा ही अन्धेरा रहे। आलोक की एक छोटीसी रेखा जीवन को जगा देती है। इससे जीवन-कल्प होता है। मनुष्य के मनन का वेग—"मैं कौन हू, कहांसे आया और कहा जानेवाला हू"— यहीं पर नहीं रुकता, वह आगे बढता है, सक्रिय बनकर बढता है। और वहातक बढता है जहातक बढने का कुछ अर्थ होता है।

सरदारशहर (१९५२)।

अहिंसा-दर्शन

अहिंसा का इतिहास मनुष्यता के इतिहास से कम पुराना नहीं है। अहिंसा आरंभ से ही मानवीय गुणों की आधारशिला रही है। इसका मुख्य रूप आध्यात्मिक रहा है फिर भी वह व्यावहारिकता से दूर कभी नहीं हुई। अहिंसा को समझने से पहले हिंसा को समझना आवश्यक है। व्यवहार में प्राणी को मारना सताना हिंसा है और तत्त्वदृष्टि से रागद्वेषयुक्त प्रवृत्ति हिंसा है अथवा रागद्वेष से युक्त प्रवृत्ति से किया जानेवाला प्राणवध हिंसा है। अहिंसा हिंसा का प्रतिपक्ष है। दूसरे शब्दों में आत्मा की शुद्ध या स्वाभाविक स्थिति अहिंसा है। इसके वर्गीकृत दो रूप हैं —निषेधक और विधायक।

निषेधक अहिंसा

मत मारो मत सताओ बुरी बात मत कहो अनिष्ट मत सोचो—मैं मात्र पूर्ण सामंजस्य हूँ। भगवान् महावीर ने

कहा—"प्राणीमात्र का वध मत करो, पीटो मत, डराओ मत दासदासी मत बनाओ।[1] विरोध भाव मत रखो।[2] त्रास मत पहुंचाओ।[3] हुकूमत मत करो।[4] सबको आत्मतुल्य समझो।[5]"

महात्मा बुद्ध ने कहा—"अहिंसा सब प्राणियों के लिए आर्य है। बौद्ध भिक्षुओं के 'दश शिक्षापदों' में और गृहस्थों के 'पंच-शीलों' में अहिंसा का पहला स्थान है। जीव-हिंसा करना दुराचरण है, जीव हिंसा न करना सदाचरण है।[6]"

"सब भूतों की हिंसा मत करो[7]"—उपनिषद् की भाषामें भी अहिंसा का वही स्थान है जो श्रमण-नेताओं की भाषा में।

महात्मा गांधी के शब्दोंमें—"अहिंसा के माने सूक्ष्म जन्तुओं से लेकर मनुष्य तक सभी जीवों के प्रति समभाव"[8] यह अहिंसा का स्वरूप है।

यही बात महात्मा ईसा ने अपनी दश आज्ञाओं में कही है—"तुम्हें हत्या नहीं करनी चाहिए।"

---

१ आचारांग अ० १, ४/२
२ सूत्रकृतांग १, १५/१३
३ उत्तराध्ययन २/२०
४ सूत्रकृतांग २, १/१५
५ सूत्रकृतांग १, २/३/१२
६ धम्मपद धर्मार्थवर्ग १४
७ छान्दोग्य अ ८
८ मंगल प्रभात पृष्ठ ८१

"इस भूमि पर कोई पशु-पक्षी ऐसा नहीं है जो कि तुम्हारे समान ही अपने प्राणों से प्यार न करता हो'—इस्लाम धर्म का यह वाक्य किसी भी अहिंसक धर्म से कम पवित्र नहीं है। मुहम्मद साहब की शिक्षा थी कि "किसी भी प्राणी के साथ चाहे वह पशु हो या पक्षी निर्दयता नहीं करनी चाहिए क्योंकि सभी इस जीवन के बाद खुदा के पास वापिस आयेंगे।

चीनी संस्कृति में अहिंसा का अभावात्मक रूप दूसरों पीड़ा न पहुँचाना मानागया है। ताओइज्म के अनुसार अहिंसा का अर्थ है दूसरे के प्रति किसी भी प्रकार का बलप्रयोग न करना। अहिंसा के अभावात्मक रूप का यह एक विहंगमावलोकन है। पूर्वी और पश्चिमी सभी धर्म-प्रवर्तकों और विचारकों के विचारों में द्वैत नहीं दीखता। इसके प्रयोग और सीमा में तारतम्य अवश्य है।

जनधर्म में प्रत्येक स्थिति में अहिंसा उपादेय मानीगई है। हिंसा जीवन की कमजोरी है। वह किसी भी स्थितिमें स्वीकार नहीं है। मुनि के लिए हिंसा सर्वथा—मनसा, वाचा, कर्मणा, कृत कारित, अनुमतिसे त्याज्य है। गृहस्थ जब हिंसा—अनिवार्य या प्रायोजनिक हिंसासे न बचसके तो अनर्थ हिंसा जो जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक नहीं है, से अवश्य बचे। किन्तु हिंसा से नहीं बच सकता और अहिंसा एक नहीं है। हिंसा

१ कुरान ६/३८
२ कुरान ६/३८

हिंसा है, उसमे देश, काल और परिस्थितिका अपवाद नहीं होसकता। "आपत्काल मे हिंसा का प्रयोग होना चाहिए"—जैनधर्म यह सम्मति कभी नहीं देता। बौद्धधर्म की स्थिति भी करीब-करीब ऐसी ही है। एक थोड़ा अन्तर है—निर्जीव प्राणी का मॉस खाने मे जैन जहा प्रमादाचरित हिंसा मानते हैं, वहा बौद्ध उसे हिंसा नहीं मानते।

वैदिक साहित्य मे आपत्काल मे हिंसा का विधान है। केवल विधान ही नहीं उस हिंसाको अहिंसा कहागया है। महात्मागाधी अहिंसा के क्षेत्रमे वलप्रयोग का समर्थन नहीं करते किन्तु उनके अनुसार पशुपक्षियों के प्रति अहिंसक होने का अर्थ यह नहीं कि मनुष्य मानव-जीवन की उपेक्षा करके भी उनके—पशुपक्षियों के प्रति दयालु हो। बीमारी न सुधरने की स्थिति मे हो, तब गाधीजी पशु को मारना हिंसा नहीं मानते है। यह तथ्य अहिंसाप्रधान जैन-धर्म को तो सर्वथा अमान्य है ही किन्तु करुणाप्रधान बौद्ध-धर्म भी इसे स्वीकार नहीं करता।

"किसी भी शरीरधारी मनुष्य के लिए हिंसासे पूरी तरह छुटकारा पाना असंभव है।[१] इसलिए हिंसा शारीरिक जीवनकी अनिवार्य आवश्यकता है। मनुष्य के रहने, खाने, पीने और इधर-उधर घूमने-फिरने मे आवश्यक रूपसे जीवों का विनाश होता है, वह जीव चाहे जितने छोटे क्यों न हो। कुछ जीव-हिंसा मनुष्य को अपने शरीर के भरण-पोषण के लिए ही नहीं अपने

१ हरिजन २-६-४३ पृष्ट १७२

आश्रितों की रक्षा के लिए भी करनी पड़ती है।

"अहिंसावादी को अनिवार्य हिंसा तभी करनी चाहिए जब उससे बचनेका रास्ता न हो।[१]"

आचार्य भिक्षु जिन्होंने करीब २०० वर्ष पहले जैन-समाज में एक क्रान्ति करके तेरापंथी सम्प्रदाय की स्थापना की और जिनकी अभिनव आगम-व्याख्या ने समस्त विद्वत्समाज को मुग्ध करदिया बताया कि "अहिंसक को अनिवार्य हिंसा तभी करनी चाहिए' अहिंसा की भाषामें यह नहीं कहाजासकता।

'अनिवार्य हिंसा करनी चाहिए यह अहिंसा की मर्यादा के बाहर की बात है। अनिवार्य हिंसा करनी चाहिए" और अनिवार्य हिंसा हुए बिना नहीं रहती" ये दो बातें हैं। अनिवार्य हिंसा को समाज वैध माने यह एक दूसरी बात है किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से वह भी क्षम्य नहीं है।

अच्छा होता यदि उसके गले में चक्की का पाट बांधदिया जाता और उसे गहरे समुद्रमें डुबो दिया जाता —ईसा का यह कथन में हिंसा की स्वीकृति है।

कुरान में आक्रान्ता के विरुद्ध और अन्यायी के विरुद्ध युद्ध की आज्ञा है।

---

१ जन ह [बिका भाग २ पृष्ठ १७१

२ जैन इ [बिका भाग २ पृष्ठ १८१

३ मैथ्यूज १८/६

४ कुरान २२/३९

कन्फ्यूशियस भी सामूहिक हिंसा को अवैध नहीं मानते थे।

अहिंसा का प्रयोग व्यक्तिगत जीवन से ही होता आरहा है यह एकतन्त्रीय सिद्धान्त है। सामूहिक जीवनमें भी इसका प्रयोग बहुत बार हुआ है। वैशाली गणतन्त्र के अधिनायक महाराज चेटक युद्धभूमि में भी पहले किसीपर प्रहार नहीं करते थे। प्रहार करनेवाले पर भी एकबार से अधिक प्रहार नहीं करते थे। किन्तु यह मानना होगा कि राजनैतिक क्षेत्र में अहिंसा का सामूहिक प्रयोग जैसा महात्मा गांधी द्वारा हुआ, वैसा पहले नहीं हुआ। प्रयोगकाल में उसका विशुद्ध रूप रहा अथवा अन्यायके प्रतिकार का मार्ग सोलह आना अहिंसक रहा, यह कहना कठिन है। सिद्धान्ततः अहिंसाको अस्त्र मानकर वह प्रयोग चला इसलिए स्थूल दृष्टि से वह अहिंसात्मक मानाजाता है।

भगवान् महावीर और बुद्धके समय राष्ट्र स्वाधीन था। राजा भी बहुलतया निरंकुश और शोषक नहीं थे, व्यापार भी शोषण प्रधान नहीं था। इसलिए किसी राजनैतिक या आर्थिक अन्याय के प्रतिकार की लहर जनता में नहीं आई। जातीय घृणामें और पशुबलि के रूपमें जो सामाजिक तथा धार्मिक हिंसा थी, उसका उन्मूलन करनेमें श्रमण-संस्कृतिने कुछ उठा नहीं रखा। उस युगमें असहयोग, सत्याग्रह, सविनय आज्ञाभंग जैसे शब्द नहीं बने थे किन्तु अहिंसक प्रतिरोधकी पद्धति का अभाव था, यह नहीं कहा जासकता। अभय और कष्टसहिष्णुता, क्षमा और नम्रता ये अहिंसा के एकाधिकार गुण रहे हैं। प्राच्य भारतीय

साहित्य में इनके प्रयोग की गाथाएं महत्त्वभरे भावों में लिखी गई हैं।

चीन में हजारों वर्ष से 'हड़ताल' का प्रयोग होता रहा है। आज अनेक राष्ट्र अपने विरोधी राष्ट्रों का आर्थिक बहिष्कार करते हैं किन्तु यह विशुद्ध अहिंसा नहीं है। इसे हिंसा का अनुशासित रूप कहा जा सकता है। भारत की स्वतन्त्रता के संघर्षकाल में जो सत्याग्रह चला वह भी पूरा-पूरा अहिंसक नहीं रह सका। गांधीवादी इस तथ्य को स्वयं स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार "इसके पहले इस पैमाने के जन-आन्दोलन में इतनी कम हिंसा कभी नहीं हुई थी।"[1]

भारत के शासकवर्गों ने भी अहिंसा को संरक्षण दिया। महाराज चेटक, सम्राट् अशोक और राजर्षि कुमारपाल आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

भारतीय जीवन में अहिंसा का इतना प्रभाव हुआ कि यहां की राजनीति और युद्धपद्धति भी उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकी।

विधायक अहिंसा

निषेध जितना सरल होता है, भाव उतना ही कठिन। नकार की भाषा में जो स्पष्टता दीखती है, वह हकार की भाषा में नहीं दीखती। अभावात्मक अहिंसा इस नियम का अपवाद नहीं है। आज तक के अहिंसा के इतिहास में निषेधात्मक अहिंसा के

१ सर्वोदय तत्त्व-दर्शन पृष्ठ १२१

जो रूप मिलते है उनमे से कुछएक ये है—मैत्री, करुणा, प्रेम, सेवा और दया।

अपना और पराया आत्मविकास करना, दु ख के मूल का उच्छेद करना, सयममय क्रियाए करना अहिंसा की सक्रियता है। इसीका फलित अर्थ होता है मैत्री। मैत्रीसे मोह नहीं होना चाहिए।

आत्मा की राग-द्वेष-रहित परिणति और उससे सवलित जो कार्य होता है वही सही अर्थ मे मैत्री है, यह विचार जैन-परम्परा का है।

बौद्ध-परम्परा इस विषयमें करुणाप्रधान है। उसका आग्रह दु खी को वर्तमान मे सुविधा पहुचाने का अधिक है।

भगवान् महावीर की वाणी मे जहा "दु ख का मूल ढूढो और उसका उच्छेद[२] करो" का संदेश है, वहाँ महात्मा बुद्ध की वाणी मे केवल दु ख को मिटाने का सकेत मिलता है।

कन्फ्यूशियस के शब्दो मे अहिंसा का भावात्मक रूप है विश्वप्रेम। सभी व्यक्तियोसे प्रेम करना ही 'जेन' (अहिंसा) है। अपनी अहता को नष्ट कर देना और औचित्य का पालन करना ही 'जेन' है। दूसरों के प्रति वह व्यवहार कभी मत करो जो अपने प्रति तुम नहीं चाहते। गम्भीरता, उदारता, निष्कपटता, तत्परता और करुणा इन पाचो का पालन करना ही 'जेन' है।

महर्षि पतञ्जलि ने भी उसे सब जीवो के प्रति सद्भावना और वैर-त्याग के रूप में स्वीकार किया है।

२ आचाराग १/३/०/५

वेदों में भी विश्वप्रेम की स्पष्ट गाथायें हैं। महात्मा ईसा ने सेवा को परम धर्म माना है। दया को न्यूनाधिकरूपमें सबने स्वीकार किया है।

परमार्थ की भूमिकामें मैत्री करुणा दया और सेवा ये भिन्न नहीं हैं। महात्मा ईसा कहते हैं— जो तुमसे घृणा करे उसके साथ भलाई करो।

महात्मा बुद्ध कहते हैं—"हमें समस्त जगत् के सभी जीवों के प्रति ऊपर और नीचे दूर और नजदीक घृणा और दुःख से रहित होकर प्रेमका व्यवहार करना चाहिए।

कुरान की भाषा में जो कोई अन्य प्राणियोंके साथ दयाका व्यवहार करता है अल्लाह उस पर दया करता है।"

वैदिक ऋषि कहते है—"हम सब जीवों को मित्र की दृष्टि से देखें।"

भगवान् महावीर कहते हैं—"हे पुरुष! जिसे तू मारने की इच्छा करता है, जिस पर हुकूमत करने की इच्छा करता है, विचार कर वह तेरे जैसा ही सुख दुःख का अनुभव करनेवाला प्राणी है।

१—मैत्रसूत्र ५/४४
२—सुत्त निपात मेत्त सुत्त ४ ५/८
३—कुरान ६/१८
४—यजुर्वेद मा० सं ३६/१८
५—आचारांग १/५/५

इनके तात्पर्य मे कोई भेद नहीं दीखता कारणकि ये सब स्वर आध्यात्मिक है । किन्तु जहा व्यावहारिक सुख-सुविधा का प्रश्न है, वहाँ मतैक्य नहीं है । जैन-अहिंसाको साधारणतया निवृत्त्यात्मक मानाजाता है । इसका कारण यही है कि उसमे सयमहीन करुणा यानी रागद्वेषात्मक सेवाको आत्मसाधनाकी दृष्टिसे कतई स्थान नहीं है । अन्य दर्शनोमे शारीरिक अनुकम्पाको धर्मकी कोटि मे गिना है इसलिए उनमे सेवाको कुछ विशेष प्रश्रय मिलता है । उनमे भी जहाँ परमार्थ चिन्तन है, वहा सेवाके लौकिक और लोकोत्तर भेद मिलते है । किन्तु उनकी चर्चाका प्राधान्य नहीं है ।

आचार्य भिक्षु ने बताया कि अहिंसा की परिधि मे वही सेवा आसकती है, जो आत्मसाधना से अनुप्राणित है ।

शारीरिक सेवा और आध्यात्मिक सेवा के बीच एक भेद-रेखा न हो तो फिर मोह और माध्यस्थ्य, भौतिक तुष्टि और आत्मिक शान्ति मे कोई अन्तर नहीं होसकता ।

हिंसा और अहिंसा के बीच असयम और संयम की भेद-रेखा है । परमार्थ-दृष्टि से अहिंसा के सामने जीवन मृत्यु, सुख और दुःख का प्रश्न नहीं होता, वह बन्धनमुक्तिसापेक्ष है । सुख दुःख कुछभी हो, जहाँ आत्ममुक्तिकी प्रवृत्ति है वहाँ विशुद्ध अहिंसा यानी आत्मशोधक अहिंसा नहीं होसकती । व्यावहारिक अहिंसा—स्थूल हिंसा का अभाव या कम हिंसा, जो कि सामाजिक जीवनकी स्थितिका व्यवहार है, को विशुद्ध अहिंसा—स्थितप्रज्ञ-दशा को एक तुलामे नहीं रखा जा सकता ।

समग्र व्यक्ति आक्रान्ता नहीं बन और विजेता युद्धसे पराङ्मुख हुए यह अहिंसा का ही परिणाम है। विश्वशान्ति और व्यक्ति की शान्ति दो वस्तुएं नहीं हैं। अशान्ति का मूल कारण अनियन्त्रित लालसा, लालसा से संग्रह, संग्रह के लिए होनेवाला शोषण है। व्यक्ति या विश्व जो शान्ति चाहता है उसे उक्त कारण से बचाना होगा अन्यथा अशान्ति का स्रोत सूख नहीं सकता।

पूर्ण अहिंसा—जो अहिंसा का महाव्रत है सबके लिए सम्भव नहीं। एक वर्गविशेष—'मुनि' के लिए वह होसकती है। अहिंसाणुव्रत जो विश्व-अशान्ति को दबाये रखने में समर्थ है प्रत्येक व्यक्ति की न्यूनतम आवश्यकता है। इसका अर्थ है—ऐसे अहिंसक समाज का निर्माण जिसमें जीवन का प्रवाह रुके बिना आक्रमण और शोषण न रहे, संकल्पपूर्वक होनेवाली हिंसा मिटजाय।

मार्च १ ५२

सरदारशहर (राजस्थान)

युवक-उद्बोधन

मुझे इसमें जरा भी सन्देह नहीं कि नौजवानों में जोश है, हिम्मत है उत्साह है और उनमें क्रान्ति के स्फुलिंग है। परन्तु मैं कहूंगा—जहां उनमें ये विशेषताएं हैं, वहां आज उनमें कमियां भी कम नहीं हैं। सबमें नहीं तो अनेक में चरित्र-बल की कमी है। उनमें सहिष्णुता नहीं है। वे काम नहीं चाहते। उनकी कथनी और करनी में एकरूपता नहीं है। मैं नौजवानों को जोर देकर कहूंगा कि यदि वे अपने को ऊँचा उठाना चाहते हैं तो वे सबसे पहले अपने आपको सुधारें। चरित्रवान् बनें। जीवनमें नैतिकता और सदाचार को प्रश्रय दें। सहनशील बनें। उनमें नाम, पद, प्रतिष्ठा की भावना न होकर काम की भावना हो। वे केवल कहें ही नहीं, करें भी। ऐसा करनेसे ही वे वैयक्तिक, सामाजिक व राष्ट्रीय उन्नति में सहयोगी बन सकते हैं।

समस्त व्यक्ति आकांक्षा नहीं मन और विजेता युद्धसे पराब मुक्त हुए यह अहिंसा का ही परिणाम है। विश्वशान्ति और व्यक्ति की शान्ति दो वस्तुएं नहीं है। अशान्ति का मूल कारण अनियन्त्रित लालसा असम्मा से संग्रह संग्रह के लिए होनेवाला शोषण है। व्यक्ति या विश्व जो शान्ति चाहता है उस उस कारण से बचाना होगा अन्यथा अशान्ति का स्रोत सूख नहीं सकता।

पूर्ण अहिंसा—जो अहिंसा का महाव्रत है सबके लिए सभव नहीं। एक वर्गविशेष—'मुनि' के लिए वह शक्य ही है। अहिंसाव्रत जो विश्व-अशान्ति का बचाव रखने में समय है प्रत्येक व्यक्ति की न्यूनतम आवश्यकता है। उसका अर्थ है— वैसे अहिंसक समाज का निर्माण जिसमें जीवन का प्रवाह रहे बिना आक्रमण और शोषण न रहे सकल्पपूर्वक होनेवाली हिंसा मिटजाय।

माघ १ २

सरदारशहर (राजस्थान)

कसौटी

जीवन क्षण-क्षण विकासोन्मुख हो, वह सच्ची प्रगति तथा उत्थान की ओर द्रुतगति से आगे बढ़े, इसीमे मानव-जीवन की सफलता है। जिनके दिलमें कुछ करने की तड़फ है, वे नएपन या पुरानेपन के बंधनकी परवाह नहीं करते और न नवीनता या प्राचीनता किसी वस्तु की कसौटी ही है, उसकी कसौटी तो उसकी उपयोगिता, अच्छाई और श्रेष्ठता है। चूकि एक वस्तु पुरानी है, इसलिए ग्राह्य है और नई है इसलिए त्याज्य है अथवा नई है इसलिए ग्राह्य है और पुरानी है इसलिए त्याज्य है, ऐसा सोचना जड़ता है, दिमाग की गुलामी है। प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है कि वह नवीनता या प्राचीनता के फेर मे न पड़ वास्तविकता की खोज करे, इसीमे उसका भला है।

मनुष्य केवल आलोचक न बनकर कर्मठ बने। थोथी बातो

नौजवानों! जानते हो—तुम्हारे पर कितना बड़ा उत्तरदायित्व है। क्या तुम इसे भूल जाओगे? मैं पुनः तुम्हें आह्वान करता हूं और कहता हूं—जागो उठो कहीं ऐसा न हो कि जीवन की ये स्वर्णिम घड़ियां वृथा चली जाएं।

[ता ४-५-५२ को लाडनूं (राजस्थान) में
आयोजित युवक-सम्मेलन के अवसर पर]

कसौटी

जीवन क्षण-क्षण विकासोन्मुख हो, वह सच्ची प्रगति तथा उत्थान की ओर द्रुतगति से आगे बढ़े, इसीमें मानव-जीवन की सफलता है। जिनके दिलमें कुछ करने की तड़फ है, वे नएपन या पुरानेपन के बंधनकी परवाह नहीं करते और न नवीनता या प्राचीनता किसी वस्तु की कसौटी ही है, उसकी कसौटी तो उसकी उपयोगिता, अच्छाई और श्रेष्ठता है। चूंकि एक वस्तु पुरानी है, इसलिए ग्राह्य है और नई है इसलिए त्याज्य है अथवा नई है इसलिए ग्राह्य है और पुरानी है इसलिए त्याज्य है, ऐसा सोचना जड़ता है, दिमाग की गुलामी है। प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है कि वह नवीनता या प्राचीनता के फेर में न पड़ वास्तविकता की खोज करे, इसीमें उसका भला है।

मनुष्य केवल आलोचक न बनकर कर्मठ बने। थोथी बातों

से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, वह तो समय और शक्ति का अपव्यय है। मैं चाहता हूँ—लोग सत्क्रियाशील बनें। उनका जीवन त्यागपूर्ण व आदर्श हो। इसीमें उनके मानवपन की सार्थकता है।

[ता० १६-१२ को बीदासर (राजस्थान) में आयोजित नागरिक-सम्मेलन के अवसर पर]

वर्तमान समस्याका समाधान

अपरिग्रहवाद

आज जिस ओर देखते है, रोटी और कपडेकी समस्या की आवाजें सुनाई देती है, परन्तु मैं कहूगा वास्तविक समस्या रोटी और कपड़े की उतनी नहीं, जितनी नैतिकता और मानवता की है। आज लोगों का जीवन अनैतिक और अमानवीय बना जा रहा है। दिन पर दिन वे सचाई, ईमानदारी और नेकनीयती को भुलाते जारहे हैं। तभी तो यह देखाजाता है कि एक आदमी के यहाँ अनाज की कोठियाँ भरीपडी है और दूसरा अनाज के अभाव मे छटपटा रहा है। आज इन्शान कितना स्वार्थी बनगया है, अपने तिलमात्र स्वार्थ के लिए दूसरो का गला घोटते जराभी नहीं सकुचाता।

मै एक पर्यटक हू। मुझे धनी गरीब सभी तरह के लोग मिलते है। मैं जब उन कोट्यधीश धनवानो को देखता हू तो

वे भी मुझे अन्न और पानी के स्थान पर हीरे पन्ने तो खाते नजर नहीं आते। मुझे आश्चर्य होता है कि वे धन के पीछे शोषण और अत्याचारोंसे अपने को पापके गड्ढेमें गिराते हैं।

आज साम्यवाद का नाम जन-जन की जिह्वापर है। कान्स्टीट्यूशन क्लब नई दिल्ली में लोगों ने मुझसे पूछा—क्या भारत में साम्यवाद आयेगा? मैंने उत्तर दिया—आप बुलाओगे तो आयेगा नहीं तो नहीं। मेरा अभिप्राय यह है कि यदि भारतीय लोग साम्यवाद से तो जड़वाद पर आश्रित है घृणा करते हैं तो उन्हें अपरिग्रहवादी बनना होगा। शोषण अत्याचार और अतिलोभ को छोड़ना होगा।

जैसाकि मैंने पहले बताया—आज स्वार्थ-भावना का सर्वत्र बोलबाला है। और तो और लोग धर्म में भी इस वृत्ति को नहीं छोड़ते। किसी को रूखी सूखी रोटी का टुकड़ा दे दिया समझने लगे—उन्होंने बहुत बड़ा दान करदिया बहुत बड़ा पुण्य कमालिया। वे नहीं सोचते कि एक सामाजिक भाई के नाते वह तो दान का नहीं, भाग का अधिकारी है।

अन्तमें मेरा यही कहना है कि जनता अपरिग्रहवाद का अपने जीवन में अधिकाधिक प्रश्रय दे। यही उसकी सब समस्याओं का सही हल होगा।

[ता० २१-१-५२ को चूरू (राजस्थान) के नागरिकों की ओर से आयोजित स्वागत समारोह के अवसर पर]

शान्ति और क्रान्ति का भ्रम

आजका ससार धुधले वातावरणमे से गुजर रहा है। शान्ति और क्रान्ति की भ्रान्ति छारही है। वह क्या चाहता है—इसका अनुमान करना कठिन है। शान्ति के लिए सबकुछ होरहा है, ऐसा सुनाजाता है। युद्ध भी शान्ति के लिए, स्पर्धा भी शान्ति के लिए, अस्त्र-शस्त्रो का निर्माण भी शान्ति के लिए, अशान्ति के जितने बीज है वे सब शान्तिके लिए—यह मानसिक झुकाव की कितनी भयकर भूल है ? बातें चलें विश्वशान्ति की और कार्य चले अशान्ति के, शान्ति हो कैसे ?

सही अर्थ मे शान्ति की चाह नहीं है, ऐसा लगता है। मुझे साफ शब्दोंमे यों कहना चाहिए कि आज सबसे बडी चाह सत्ता हथियाने की और प्रभुत्व जमाने की है। आज की लडाई सत्ता की लडाई है। उसके नीचे मानवता और मानव का सर्वनाश होरहा है। मानव जन्म लेता है, मरता है—यह नैसर्गिक बात

है। आज के सभी देश मानव की सुरक्षा के लिए अधिक चिन्तित दीख रहे हैं। पर वस्तुस्थिति ऐसा है क्या ? मानवता की सुरक्षा के बिना मानव की सुरक्षा का क्या मूल्य है ? मानव को यन्त्र बनाकर चलाने में उसका क्या कोई महत्त्व है ? यह सब मानवीय शक्ति का उपहास है।

मानव स्वयं अपनी वृत्तियों का नियन्ता होना चाहिए, वहाँ वह यन्त्रवत् नियन्त्रित है, यह शान्ति का मार्ग नहीं है और नहीं है। आर्थिक विकास की चर्चा है। रहन-सहन का स्तर ऊँचा उठे—यह ध्यान है। सब सुख-समृद्धि से जीवें—ऐसा प्रदर्शन है। पर यही सबकुछ है क्या ? इसपर विचार होना अब भी बाकी है। ये जीवन की आवश्यकताएं हो सकती हैं किन्तु सिद्धान्त नहीं आदर्श नहीं और चरम साध्य नहीं चरम साध्य है मानवता। उदरपूर्ति के लिए चलते-चलते आवश्यकतायें पूरी करना एक बात है और उनके पीछे पड़जाना दूसरी बात। पहला शान्ति का मार्ग है और दूसरा लड़ाई का।

इसमें कोई सन्देह नहीं—आजका संसार विज्ञानके क्षेत्रमें बहुत आगे बढ़ा है किन्तु शान्ति का मार्ग चुननेमें बहुत पिछड़ा है—यहभी निःसन्देह है। शान्तिका सम्बन्ध बाहरी साधन सज्जा से नहीं वह अन्तरंग वृत्तियों के नियमन से है। गरीबी और गरीबों का शोषण—दोनोंका समर्थन नहीं, अमीरी और अमीरों का पोषण—इनका भी समर्थन नहीं हमें आज तीसरे दृष्टिकोण से सोचना है। वह है आत्मीय दृष्टिकोण इससे आज की फूट

नीति और अर्थनीति का मेल नहीं होगा किन्तु शान्ति का स्रोत चल पड़ेगा—इसमे कोई सन्देह नहीं। मानव मानव बना रहे, उसमे उसका कोई पतन नहीं। हमे प्रगति का दिग्सूचक यत्र बदलना होगा। हमे इस दिशा मे भौतिक जगत् को सकेत बताने का अधिकार है।

जामसाहब यूनेस्को से विशेष सम्बन्धित हैं। इसलिए म चाहूगा कि वे भारत का शान्ति सम्बन्धी दृष्टिकोण ससार को समझायें। अहिंसा और चारित्र्य के वास्तविक मूल्योंसे अवगत करायें। विश्व-शान्तिके लिए यह एक बहुत बडा कदम होगा। हिंसा पर अहिंसा की विजय होगी। हमने अहिंसा का मार्ग चुना है, वही एकमात्र शान्ति का आश्वासन है। इसे और भी समझें—इस दिशा मे हमारा बलवान् प्रयत्न होना चाहिए। नैतिक पुनरुत्थान के लिए अणुव्रती सघ के रूप मे जो आन्दोलन चलरहा है—उसे मनोयोग से देखेंगे ऐसा विश्वास है।

[ता० २६-१० ५२ को जामनगर में मुनिश्री चानमलजी के तत्वावधान में आयोजित सांस्कृतिक सम्मेलन में सौराष्ट्रके राजप्रमुख श्री जामसाहब की उपस्थिति में पठित।]

सफल युवक

मुझे युवक-शक्ति में पूर्ण विश्वास है। मेरी भाषा में युवक वही है जिसमें सत्-उत्साह मिले। युवक में उत्साह होना सहज बात है। उसका उपयोग ठीक होना चाहिए। शक्तिका दुरुपयोग अभिशाप बनता है और उसका सदुपयोग वरदान। मेरी मनोभावना एक ही है कि युवक अपनी शक्ति आत्म-अन्वेषण में लगायें। सत्य को समझें और दूसरों को भी समझाने का प्रयत्न करें। इस प्रयत्न में लगे युवक को मैं सफल युवक मानता हूं।

ता० २-११-५२

सरदारशहर (राजस्थान)

युग चुनौती देरहा है

आजका युग विकास का युग है, विज्ञान का युग है, साम्य का युग है आदि-आदि धारणाओं का स्रोत बहरहा है। मेरी सम्मति में सिंहावलोकन का युग है। मुड़ो और निहारो, आज अहिंसा की इतनी पुकार क्यों है इसपर दृष्टि डालो।

दुनियां ज्यों-ज्यों बहुत पारही है त्यों-त्यों कमी महसूस हो रही है। अहिंसा जीवनमें थी वह शब्दमें आगई, हिंसा कल्पना में थी, जो आज सहस्रशीर्षा है। हिंसा और अहिंसा के द्वन्द्व में आज अहिंसा का पलड़ा भारी नहीं है। हिंसा बुरी है, नितान्त बुरी है फिरभी दुनियां उससे चिपटी हुई है। विलास चाहिए, भोग चाहिए, सुख-सुविधा के साधन चाहिए, दूसरों पर अधिकार और प्रभुत्व चाहिए, इसपर भी हिंसा बढ़े नहीं यह कैसे ? चाहिए यह भी एक बात है किन्तु सबसे अधिक चाहिए, यह हिंसा-अग्नि में घी की आहुति है। अहिंसा अच्छी है और बहुत अच्छी है, अपने लिए नहीं, दूसरों के लिए और छोटों के लिए। आत्म-संयम होता नहीं, त्याग, तपस्या का मार्ग कठोर है,

अहिंसा का आदर होगी तो कैसे हो ? किन्तु याद रखिये मानव बनकर मानवता के साथ खिलवाड़ करना कल्याणका मार्ग नहीं है।

भोग-लिप्सा से आत्मा गिरती है। उसके गिरने पर न समाज उठता है न देश और न राष्ट्र। लोग समाज और राष्ट्र के अभ्युदय की चिन्ता में भूमरहे हैं। व्यक्ति का क्या होरहा है पता नहीं। ऊँचे व्यक्तियों के बिना ऊंची दीवारें सिर ऊँचा बनाये नहीं खड़ी रहसकती। व्यक्ति का हृदय ऊंचा न हो तब क्या समाज करे और क्या राज्य ? विधि विधान मात्र प्रेरणा या पथ की ओर इंगित है। पथदृष्टा की आंखें खुली हों तब न। नहीं तो पथ कौन देखे ?

फिर एकबार प्रयत्न करिये। यह अवसर है। युग चुनौती देरहा है। समाजकी लड़खड़ाती कड़ियां और राष्ट्रकी डगमगाती कक्षायें सावधान करहरी हैं। जागतिक समस्यायें स्फुलिंग बरसा रही हैं। इसलिए यह अवसर है। समष्टि शृङ्खला से बचे व्यक्ति को जगाइये। व्यक्ति के जागने पर समाज नहीं सोता। समाज की सत्ता जड़ है व्यक्तिमें चैतन्य होता है। व्यक्ति स्वस्थ समाज स्वस्थ व्यक्ति स्वस्थ नहीं समाज स्वस्थ नहीं।

व्यक्ति व्यक्तित्व से बाहर होचला है। वह आपे में आये ऐसे एक नहीं अनेक प्रयत्नोंकी आवश्यकता है। अणुव्रत आन्दोलन उन्हीं में से एक है। यह आध्यात्मिक है और आत्म-रमण को केन्द्र बिन्दु मानकर चलता है। बाहरी स्थितियों का सुधार इसकी गति में कुछ स्फूर्ति लासकता है किन्तु यह बाहरी स्थितियों

को मुख्य मानकर नहीं चलता। इसका ध्येय है आन्तरिक स्थितियों का सुधार। उनके सुधरने पर बाहरी स्थितियाँ अपने-आप सुधरेंगी। किन्तु यह मार्ग सही है—यह समझना आज कठिन होरहा है। यन्त्र-युग की धुधली रेखाएं मनुष्य को यंत्र बनाकर सुख की सास भरेगी, ऐसा लगरहा है। देखें क्या हो ?

धुधले मे भी एक आशा की किरण चमकती है। मनुष्य अहिंसा की रट को अभी नहीं भूला है। सम्भव है शब्द गले मे उतरजाय, जीवन बदल जाय। मनुष्य अहिंसा के प्रति निष्ठावान् बने, बनने की प्रेरणा पाये, इसीलिए अणुव्रत-आन्दोलन के कार्यक्रम में अहिंसा-दिवस की आयोजना रखीगई है।

अणुव्रती सघ जगल के व्रतियो का सघ नहीं है। वह घर, बाजार, कचहरी और न्यायालय के व्रतियो का सघ है। घर और बाजार मे, कचहरी और न्यायालय मे अहिंसा आये इस लिए अहिंसा दिवस की आयोजना है। अहिंसा का अभ्यास करते-करते मनुष्य अहिंसक बने, इस उद्देश्य से अहिंसा दिवस की आयोजना है, इसलिए इसका जीवनव्यापी महत्त्व है। समाज या राष्ट्र इसे मनाये या न मनाये किन्तु वे इसे अवश्य मनायें जिनमें जीवन है। त्याग और तपस्या के द्वारा मनायें शोषण, उत्पीडन और अत्याचार की होली करके मनाए-यह इसको मनाने का तरीका है। मेरी पुकार आत्मा की पुकार है। यह अवश्य सुनी जाएगी, मुझे दृढ विश्वास है।

[ता० ६ १२ ५३ को श्री डूगरगढ (राजस्थान) में अहिंसा दिवस के अवसर पर]

दर्शन की पवित्रता के दो कवच

अहिंसा और मोक्ष

दर्शन आत्मा की अनुभूति का समवाय है। वह द्रष्टा को तर्क के आवरण में ढक कर चलने में कुशल पथिक है। वह चलता है अनेक रूप और अनेक वेष लिए चलता है। काल दिग् और दशा की अनेकता में एकता लिए चलता है। पूर्व और पर की अनुभूति ही परम रहस्य है। पूर्व और अपर में कोई झगड़ा नहीं। इनमें पूरा सामञ्जस्य है। झगड़ा है व्यक्ति के दिमाग में। वह या तो पूर्व को मिटाकर उत्तर पाना चाहता है या पूर्व को ही स्थिर मानकर उत्तर की सोचता तक नहीं। दार्शनिक का कर्तव्य है—पूर्व और पर का समन्वय किए चलना। दर्शन परिषद् में दर्शन की विविध समस्यायें सुलझनी चाहिए। इसलिए मैं कुछ बातें रखना चाहूँगा।

दर्शन की रूप-सत्ता एक होने पर भी सत्य के विविध रूपों पर विविध दृष्टियों द्वारा स्पष्टीकरण करने के कारण वह अनेक-रूप है। 'है' इसमें कोई सन्देह नहीं फिरभी अनेकता को ही मुख्य मानकर गति होरही है—यह उचित नहीं। दृष्टि के गौण-मुख्य भाव को समझने का प्रयत्न होना उचित है।

तुलनात्मक अध्ययन की परिपाटी विकसित होरही है किन्तु फिरभी मानसिक झुकाव के कारण उसमें कोई मूर्त्त परिणाम नहीं आता। यह दर्शनों को आपस में विरोधी समझने का परिणाम है।

विचार-वैविध्य दोष नहीं। दोष है उसकी भित्ति-पर विरोध-प्रचार। यह बात दर्शन के चरम और पवित्र लक्ष्य की साधक नहीं, बाधक है। इस पर दार्शनिक जगत् को अबभी बहुत विचार करना है।

दार्शनिक साहित्य पर भी विचार होना चाहिए। प्रत्येक दर्शन के अधिकारी अपना-अपना दृष्टिकोण प्रकाश में लायें, यह मर्यादा से परे नहीं। दूसरों का दृष्टिकोण समझे बिना या आग्रह के कारण उसे विकृत बनाकर प्रकाश में लायें, यह औचित्य की परिधि से परे है। लगभग इस अर्ध शताब्दी में अनेक दर्शनों को छूनेवाली जो पुस्तकें लिखी गई हैं वे प्रायः त्रुटि-पूर्ण हैं। एक व्यक्ति का पूरा अधिकार एक या दो दर्शन पर होसकता है। सब दर्शन पूरे न तो हृदयङ्गम होसकते हैं और न उनका हार्द व्यक्त किया जासकता है। इसलिए एक व्यक्ति

अनेक दर्शनों पर किसी का अधिकार पूर्ण काय नहीं कहा जा सकता। इसमें केवल शब्द पकड़े जाते हैं, आत्मा नहीं पकड़ी जाती। अपने अपने दर्शन के अधिकारी व्यक्तियों के लिये लक्षों की संकलना से एक ग्रन्थ बने वही वास्तव में यथार्थ सफल हो सकता है।

दर्शन के प्रसिद्ध विद्वान् उपराष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन के सभापतित्व में होनेवाला यह समारोह उदार भावना को सुतरां आगे बढ़ानेवाला होना चाहिए। दर्शन की उच्च परम्परा भारतीय चेतना की उदात्त साधना का फल है। आनेवाली पीढ़ी इसमें उतना रस नहीं लेरही है जितना लेना चाहिए। यह चिन्तनीय है। पुराने दार्शनिक वर्तमान की समस्याओंको दर्शन का विषय बनाना पसन्द नहीं करते—यह भी विचारणीय है।

दार्शनिक नये दार्शनिकों को पैदा कर सकते हैं। इसलिए दार्शनिकों को अपनी वृत्तियाँ ऐसी बनानी चाहिएँ जिससे नये दार्शनिक पैदा हों। दर्शन अतीत तक सीमित नहीं है। भविष्य भी उसके गर्भसे बाहर नहीं जा सकता। इसके द्वार कभी बन्द नहीं किये जा सकते।

भारतीय दर्शन ने अनेक गम्भीर विचार दिये इसलिए उसका महत्त्व है। गम्भीर विचार देने की क्षमता पदा की यह उससे भी आगे की बात है। भारतीय चिन्तनधारा पूर्ण स्वतन्त्र रही इसलिए चिन्तन का सर्वतोमुखी विकास हुआ। यत्किंचित् सकारक नास्तिकों को कुचलना दूर की बात उनके विचार भी

कुचले नहीं गये। सत्तारूढ़ दर्शन ने अन्य दर्शनों को धूलिसात् करने का प्रयत्न नहीं किया। कारण यह कि यहां के दर्शन धर्म को छोड़कर नहीं चले। मोक्षका लक्ष्य और अहिंसाकी साधना ये दो इसकी पवित्रता के कवच रहे हैं। यह एक विशेष वस्तु-स्थिति है। मैं आशावान् हूं—यह पवित्र परम्परा और आगे बढ़ेगी।

[दिसम्बर, १९५० में मैसूर में
आयोजित फिलोसॉफीकल कांग्रेस के अवसर पर]

सांस्कृतिक विकास क्यों ?

आचार और विचार की रेखायें बनती हैं और मिटती हैं। बनता है वह निश्चित मिटता है किन्तु मिटकर भी जो अमिट रहता है—अपना संस्थान छोड़जाता है वह है संस्कृति। अनेक समाज अनेक धर्म और अनेक मत अनेक संस्कृतियां मानते हैं पर वास्तव में वे अनेक नहीं हैं सिर्फ दो हैं—भलाई की या बुराई की सुख की या दुःख की। आदमी भला होता है या बुरा सुखी होता है या दुःखी। संस्कार भी इसी रूपमें रहते हैं। संस्कृति पैतृक सम्पत्तिके रूपमें मिलती है। शताब्दियोंको परम्परा के संस्कार मनुष्यके विवेक को बुझाते और जगाते हैं। जगाने की बात सही होती है और बुझाने की गलत। फिरभी कमबेशी मात्रा में दोनों चलते हैं। बुझाने की मात्रा घटजाय या टूट जाय और जगानेकी मात्रा बढ़जाय इसलिए सांस्कृतिक समारोहों का महत्त्व होता है।

संस्कृति ऊँची चाहिए—यह अभिलाषा सबको है। सब चाहते हैं—हमारा आचार-विचार सब सीखें। किन्तु यह तब हो सकता है जब मनुष्य सबमे मिलजाय। आत्मासे आत्मा मे घुलजाय। बाहरी बन्धन—भोग और भोग के साधन आत्मा-आत्मा को अलग-अलग किये हुए है। भोग की वृत्तिसे स्वार्थ बढता है, स्वार्थ से भेद और भेद से विरोध। जैन-धर्म बताता है—सब आत्मा समान है, उनमे कोई विरोध नहीं है। मूल मे विरोध नहीं है तब संस्कृति मे वह कैसे हो सकता है ? वास्तव मे नहीं होता, वह कोरी कल्पना है। उसे मिटाने के लिए त्याग का मन्त्र पढाया गया। यह एकमात्र परमार्थ का रास्ता है। लेने मे "मै अधिक लू" की भावना होती है और वह मनुष्य को गिराती है। छोडने में "मै अधिक छोड़ू" की भावना आये यह जरूरी है। यह कठिनाई से आती है। फिरभी समस्या का एकमात्र हल यही है, इसमे कोई सन्देह नहीं।

भारतीय संस्कृति मे त्याग—आत्म-विजय, आत्मानुशासन और प्रेम की अविरल धाराएँ वही है। भोग से सुख नहीं मिला तब त्याग आया, दूसरे जीते नहीं गये तब अपनी विजय की ओर ध्यान खींचा। हुकूमत बुराइयाँ नहीं मिटा सकीं तब 'अपने पर अपनी हुकूमत' का पाठ पढाया गया। आग से आग नहीं बुझी तब प्रेम से आग बुझाने की बात सूझी। ये वे सूझें हैं जिनमे चैतन्य है, जीवन है, दो को एकमे मिलाने की क्षमता है।

आचारको विचारसे पहला अथवा आचारके लिए विचार—

यह माननेवाला भारतीय दृष्टिकोण मिटता जारहा है। केवल विचार के लिए विचार बढ़रहा है। यह अनिष्ट प्रसग है। आचार नहीं तो विचार से क्या बने ? इसलिए थोथे विचारों के भंवर में न फंसकर आचारमूलक विचार करने की भावना जागे, संयम और स्वरासम की वृत्ति बढ़े यही सही अर्थ में संस्कृति के चिन्तन का सुफल है।

[ता १९ १२ ५३ को गांधी विद्या मन्दिर सरदारशहर में आयोजित सस्कृति-सम्मेलन के अवसर पर]

भगवान् महावीर का प्रेरणा-स्रोत

भगवान् महावीर एक क्रान्तिकारी महापुरुष थे। उनका जीवन साधना व जन-जागरणका जीवन था। उन्होने अशाति की भीषण अग्निसे झुलसी मानवता को शान्ति और राहत का सदेश दिया।

उन्होंने बताया—मनस्वी वे है जो अनुस्रोत मे—जगत् के चालू प्रवाह मे न बहकर प्रतिस्रोत मे बहें। आज स्थिति यह है - लोग संसार के चालू प्रवाह में बेतहाशा बहे जारहे है। उनका इस ओर जरा भी ध्यान नहीं कि वह प्रवाह उन्हें कहाँ लेजाकर छोडेगा। सोचने और समझनेवाले व्यक्ति का यह कर्त्तव्य नहीं कि वह इस प्रकार अंधाधुंध चलता रहे। उसे तो चाहिए कि वह अपनी बुद्धि से सचाई को परखे और परखकर उसे अपनाए, फिर चाहे वह लोगों के चालू प्रवाह के विपरीत ही क्यों न हो।

यह माननेवाला भारतीय दृष्टिकोण मिटता जारहा है। केवल विचार के लिए विचार बढ़रहा है। यह अनिष्ट प्रसग है। आचार नहीं तो विचार से क्या बने ? इसलिए थोथे विचारों के भंवर में न फंसकर आचारमूलक विचार करने की भावना जागे सयम और स्वशासन की वृत्ति बढ़े यही मही अर्थ में सस्कृति के चिन्तन का मुफल है।

[ता १९ १२-५१ को गांधी विद्या मन्दिर सरदारशहर म आयोजित सस्कृति-सम्मेलन के अवसर पर]

वह समय था जबकि लोग धर्म के नामपर हिंसा और पूँजीवाद का प्रचार करते थे। धर्म के नामपर मूक पशुओं की निर्दय हत्या होती थी। भगवान महावीर ने इस अनुष्ठानधर्म चलनेवाले लोगों के जीवन को झकझोरा। अपने अहिंसक आन्दोलन के जरिये उनके दिल को बदला।

भगवान् महावीर एक समन्वयवादी महापुरुष थे। उनके द्वारा प्रसारित अनेकान्तवाद का सिद्धान्त समन्वयवाद का पूर्ण परिपोषक है। उन्होंने बताया—धर्म-पथपर लोग आगे बढ़ते रहें इसके लिए यह अति आवश्यक है कि उनमें विशालता और उदारता आवे। दृष्टि की संकीर्णता एक दूसरे को मिलाती नहीं अलग करती है। अतः लोग कैंची नहीं सुई बने जो काटने के बदले जोड़ने का काम करती है।

आज सब धर्मों के सिद्धान्तों में समानता के तत्त्व अधिक हैं असमानता के कम। आज के युग की यह माँग है कि समानता के तत्त्वों के माध्यम से लोग समन्वय की ओर बढ़ें। यही धर्म लोक-जीवन के लिए कल्याणकारी सिद्ध होगा।

[ता० २८-४-५१ को महावीर जैन मण्डल बीकानेर की ओर से आयोजित महावीर-जयन्ती के अवसर पर]

संस्कृतज्ञ क्या करें ?

सदाशयो !

अपनेआप स्वस्थ समय आया है। वसन्त खिलरहा है। जो वर्तमान को ही सब कुछ मानता है, वही व्याकुल बनता है। आत्मा का अस्तित्व त्रैकालिक है। इसे समझनेवाले अस्वस्थ नहीं बनते। कहीं उतार है और कहीं चढ़ाव। जो दोनों मे सम रहता है, उसे वैषम्य नहीं सताता। यह वहीं सभव होसकता है, जहा आत्मा का या पूर्वापर अनुभूति का एकत्व होता है। एकता के बिना समता नहीं होती। जो उन्नत होता है वही अवनत। यह साम्य है। यह स्थिति न बने तो साम्य की कल्पना का कोई अर्थ ही नहीं रहता।

संस्कृत एक भाषा है। भाषा भावों का दौत्य-कर्म करती है। इसीमे उसका महत्व है। उसका कैसाही रूप बने, कोई समस्या नहीं। फिरभी कई कारणों से उसका वैभव बढ़ता है।

शान्ति में ही जीवन की सरसता है। इसमें कोई विवाद नहीं। जिससे शान्ति की मात्रा अधिक बढ़े वही कल्याणकर है। संस्कृत भाषाको इन भावोंको वहन करनेका सौभाग्य मिला। जो भाव आत्मलीन सन्तोंके हृदयमें पले और जिनमें शान्ति निखर रही है। वे आज भी जीवन की गांठ खोल सकते हैं।

शान्ति क्या है सुख क्या है आत्मा क्या है—इन तत्वोंकी संस्कृत-वाणी में प्रचुर चर्चा मिलती है।

आज वैज्ञानिक साधन तीव्र गतिसे बढ़रहे हैं फिरभी शांति की पुकार आज जितनी तीव्र है उतनी पहले नहीं थी। ऐसा मेरा दृढ़ निश्चय है। जो साहित्य भूलादिया गया जो भाषा भुलादीगई उनके पुनर्जीवनकी आज अपेक्षा है। उसके संकेत भी मिलरहे हैं। यदि ऐसा होगा तो शान्ति दूर नहीं रहेगी।

भाषा की दृष्टि से भी संस्कृत का महत्त्व कम नहीं है। ऐसा मुग्धकारी भाव अन्यत्र नहीं मिलता। स्वच्छ मनवाला कवि भी यहा उन्मुक्त होकर विचरता है। शब्द और अर्थके रूप का भी इसमें बहुत बड़ा अवकाश है। साहित्य-सौरभ भी हृदयको सरसाने वाला है। सबका सार स्व स्थिति है। वही शान्ति का बीज है। इसी एक गुणपर जीवन-सर्वस्व अर्पित किया जा सकता है। संस्कृत-पंडितों को भी भूल सुधार करना होगा। वे वर्तमान की सर्वथा उपेक्षा कर चलें—यह उचित नहीं। समन्वय पथपर वे चलें तो उनके चरण-चिह्न अपनेआप अनुकरणीय होंगे।

[ता० २९.१.५१ को राजस्थान प्रान्तीय संस्कृत साहित्य-सम्मेलन की ओर से आयोजित संस्कृत-साहित्य-परिषद् के अवसर पर]

नारी-जागरण

पुरुष और नारी मानव जाति के दो अंग है। दोनो का अपने-अपने स्थान पर कम महत्त्व नहीं है। दोनो का कार्य-विभाजन प्राचीनकाल से चला आरहा है। महिला घर-गृहस्थी का काम देखे, पुरुष बाहर का काम सम्हाले। ऐसा कोई कारण नहीं कि पुरुषों की अपेक्षा महिलाओं को हीन समझाजाए। मुझे बहुत खेद होताहै जबकि मै पुरुषों को यह कहते सुनता हू कि नारी पुरुष की दासी है, पुरुषों की तो यह दम्भ और अहपूर्ण प्रवृत्ति है ही, ऐसा होने मे महिलाए भी कुछ न कुछ कारण बनती हैं। इनमे अपनेआपको हीन समझने की अधम मनोवृत्ति घर करगई है। मै उन्हें जोर देकर कहूगा कि वे अपने विवेक को पुन जागृत कर।

जीवन मे विवेक अथवा ज्ञान का कम महत्त्व नहीं है। विवेक जीवन का सच्चा नेत्र है। उसके बिना प्रगति अन्धी है। कर्मठता, मृदुता, कष्टसहिष्णुता आदि नारी के सहज गुण हैं पर इनकी जो उपयोगिता होनी चाहिए, विवेक के बिना वह हो नहीं पाती। नारी-समाज को आज चिर निद्रा छोड, अपना विवेक जगाना है।

भारतीय संस्कृति जो जीवन-दर्शन और अध्यात्म से ओत प्रोत है के निर्माण और पोषणमें नारी का कम हाथ नहीं रहा। अपने अतीत के गौरव को स्मरण करतेहुए उसे चाहिए कि वह जीवनमें उन अमर तत्त्वों का पुन संग्रह करे जिससे उसे जो आत्मप्रेरणा मिलेगी, उन उत्थानमें भी वह सहयोगिनी बनसके। वे अमर तत्त्व हैं—अध्यात्म शिक्षा चारित्र्य और शील।

आज फैशनपरस्तीकी बाढ़सी आरही है। सौन्दर्य्य प्रसाधन के नये-नये कृत्रिम उपाय आविष्कृत होरहे हैं। ये उसी भूतवाद के प्रतीक हैं जिसके चंगुल में फस आज पश्चिमके मुल्क भौतिक सुविधाओं के समग्र साधनों के बावजूद भी अशान्ति और अभाव का अनुभव करते हैं। भारतीय दृष्टि में इस कृत्रिम व नश्वर सौन्दर्य्य का कोई महत्त्व नहीं। यहां तो आत्मनिर्मलता तथा सरलता की महत्ता है जो अन्तर-सौन्दर्य्य के प्रतीक हैं। अस्तु—बहिनों विलासिता व कृत्रिम लावण्य साधना में अपने आपको न खोए। वे उसी अन्तर-लावण्य की उपासना करें।

गृहस्थ के निर्माण का बहुत कुछ उत्तरदायित्व गृहदेवियों पर है। यदि वे जीवन में सादगी व सन्तोष लाए और इस बात के लिए प्रयत्नशील हों कि उनके घरमें पाप और शोषण का पैसा न आए तो वे इसमें बहुत कुछ कामयाब होसकती हैं।

[ता० ४-४-५१ को महिला-जागृति-परिषद् बीकानेर की ओर से आयोजित महिला-सम्मेलन के अवसर पर]

राजस्थानी-साहित्य की धारा

वास्तव मे वही साहित्य सारवान् है, जो जीवनको ज्योतित करनेवाला हो, उसमें सजीवता और सजगता भरनेवाला हो। "साहित्य साहित्य के लिए है"—यह तत्त्व भारतीय विचारधारा में मान्य नहीं रहा। भारत की चिन्तन-धारा जहा कहीं भी प्रवाहित हुई, उसने बहिरंग की चमक मे खो अन्तरंग को नहीं भुलाया प्रत्युत उसे सदा याद रखा। यही कारण है कि भारतीय साहित्य का चरम लक्ष्य रहा—जीवन की खोज, आत्मा की अनुभूति, सत्-चित्-आनन्द मे लीनता।

यह कहना होगा कि राजस्थानी भाषा के साहित्य मे ये तत्त्व बहुलतया संयोजित हैं। इसीलिए इसका महत्त्व है।

राजस्थान की संस्कृति और उसका इतिहास जिस प्रकार गौरवपूर्ण है, राजस्थानी भाषा भी अपने साहित्यिक वैभव और समृद्धि के कारण निराली है। भाषा-विशेष का मोह न होते हुए

भी यह कहना होगा कि जिस भाषा में जीवन का सार और आत्मा की अनुभूति मिलती है क्या वह उपेक्षणीय है ?

राजस्थानी का साहित्य युगों में ज्ञान फलनेवाला है। उसमें जहां एक ओर चारणों और भाटों की ओज-उफनती व वीर-रस के निझर झरते दीखते हैं तो दूसरी ओर सतो की आत्म-साधना से निकली निर्वेद की निमल व निद्वन्द्व धारा जिस अनिरुद्ध गति से उसमें बही है कुछ कहते नहीं बनता।

जैसा कि विदित है—जैन तीर्थकर तथा आचार्य सदा से लोक-भाषा में अपना उपदेश करते आये हैं। मुझे यह कहते गौरव है कि हमारे तेरापन्थमें हमारे आद्य प्रवर्तक आचार्य भिक्षु से लेकर आजतक राजस्थानी साहित्य की एक निर्बाध धारा बहती आरही है और राजस्थानी में गद्यपद्यात्मक सम्पन्न व विशाल साहित्य लिखागया। हमारे चतुर्थ आचार्य श्रीजीतमलजी अकेलों ने लगभग तीन लाख पद्य लिखे।

मातृभाषा के प्रति मानव का एक सहज आकर्षण होता है। उस भाषा के माध्यमसे वह भावों को अपेक्षाकृत अधिक सरलता व सुविधा के साथ हृदयंगम कर सकता है। इसलिए उसका विशेष महत्त्व है। पर कहना होगा—राजस्थानी का महत्त्व राजस्थानियों ने ही नहीं आंका उसे एक ग्राम्य भाषा समझा जबकि उसके अतीत का साहित्य भारत की प्रान्तीय भाषाओं में अपना एक विशेष स्थान रखता है। पर साथ ही साथ यह भी मननीय है कि "राजस्थानी का साहित्य गौरवपूर्ण है, आदर्श

है"—इतनी सी कल्पना से कुछ बनने का नहीं। उस साहित्य ने जो जीवन का सन्देश दिया है, त्याग का पाठ पढ़ाया है, स्वार्थपरता को घुड़का है, उन आदर्शों को जीवन में ढालें। तभी उसके अध्ययन, मनन और अनुशीलन की सार्थकता है।

[ता० ९-४ ५३ को शार्दूल राजस्थानी रिसर्च इन्स्टीट्यूट् की ओर से बीकानेर में आयोजित राजस्थानी साहित्य परिषद् के अवसर पर]

संस्कृत ऋषि-वाणी है

संस्कृत कल्पवृक्ष है। उसकी एक छोटीसी शाखा भी मरती हुई आत्मा को संजीवन दे सकती है। बहिरंग दृष्टि में पार्थिव शरीर का अति महत्त्व है। वही सर्वस्व बन गया। फलत आत्मचेतना मूर्च्छित हो रही है। चारों ओर अशुभ भविष्य फल रहा है।

"जो आत्मविद् होता है वह सर्वविद् होता है"—आत्मा को जाने बिना शोक नहीं तराजाता—यह मर्म है सुख का दिव्य संकेत है। जो आत्मा को भुलाकर चले उन्हें शान्ति नहीं मिली। बहुत कुछ जानने पर भी नहीं मिली। जो अपने आप में नहीं रम सके, उनका उद्वेग नहीं मिटा—अशेष विद्या का विलोडन करने पर भी नहीं मिटा। इसलिए भगवान् महावीरने कहा है—

अनात्मवान् को विविध भाषाएं त्राण नहीं देती विद्यानुशासन

त्राण नहीं देता।" आजका जगत् वासना के दलदल में फसा हुआ है। उसे परित्राण के लिए ऋषि-वाणी एक बलवान् अवलम्बन है।

ऋषि-वाणी संस्कृत और प्राकृत में रमी हुई है। जैसे कहा गया है—"सस्कृत और प्राकृत ये दो प्रसिद्ध ऋषि-भाषित हैं।" सस्कृत प्रसार पाए, यह आग्रह भाषा की दृष्टि से नहीं, तत्त्वदृष्टि से है। भाषा की दृष्टि से भी इसका कम महत्त्व नहीं है। तत्त्व-दृष्टि से तो यह जीवनदायक है।

सस्कृत का विकास कुठित होरहा है, इसके कारण हैं —

(१) शिक्षा के दृष्टिकोण का विपर्यास
(२) दूसरों के महत्त्वाकन की दास्यपूर्ण मनोवृत्ति।
(३) सस्कृत-पडितोंकी रूढिवादिता, समयानुकूल अपरिवर्तन।
(४) गुरुकुल प्रणाली का उच्छेद।

"विद्या वह है जो मुक्तिके लिए हो"—इसके स्थानपर "विद्या वह है जो जीविका का साधन बने"—यह सूत्र चलरहा है।

संस्कृत देवभाषा है, यह जो था, अब नहीं रहा। आज उसके भाग्य में मृतभाषा की उपाधि बची है।

"पग-पग पर जो बदले--नया बने वह सुन्दरताका उपादान है"—यह रट लगानेवाले भी परिवर्तन से घबडाते हैं।

गुरु-शिष्य का सम्बन्धपूर्वक अध्ययन करना आज कल्पना जैसा लगरहा है। फिरभी वह व्यापक और निर्दोष है—इसमें कोई सन्देह नहीं।

लोक के प्रतिकूल चलना दुरूह होता है। सब प्रश्नों का समाधान स्वार्थ-त्याग है। जीवन की सुविधा को मुख्य मानकर चलनेवाले कार्य नहीं करसकते। लक्ष्यसिद्धि में प्राण प्रण से खपनेवाले ही जितने अधिक होते हैं काम उतना अधिक स्फूर्ति मान् बनता है। प्रेयस्-सिद्धिके क्षेत्र में भी त्यागी व्यक्तियों की प्रमुखता दीखती है। श्रेयस् का तो सवस्व ही त्याग है। श्रेयस् त्यागियों की जन्मभूमि है। त्यागी यह अध्यात्ममूलक संस्कृत का गौरव पद—इसी अर्थ में सम्मिलन सफल होसकता है।

[ता० २२-५-५१ को हृषीकेश में आयोजित अखिल भारतवर्षीय संस्कृत साहित्य सम्मेलन के बीसवें अधिवेशन के अवसर पर]

सन्तों की स्वागत-सामग्री त्याग

जोधपुरवासियों ने मेरा स्वागत किया, यह उनके अन्तरतम की भक्ति का परिचायक है। पर साधुओं का कैसा स्वागत? उनका तो यही सच्चा स्वागत है कि लोग जीवन में त्याग, सचाई व नैतिकता को अधिक से अधिक स्थान दें। घुन की तरह जीवन को खोखला बनानेवाली बुराइयों को मिटायें, अपने में चारित्र्य व सादगी लायें।

आज लोग कहते है—धर्म खतरे मे है पर मेरा कहना है—सच्चा धर्म कभी खतरे मे हो नहीं सकता। वह अमर है, शाश्वत है, कभी मिटनेवाला नहीं। वह विश्वशान्ति तथा समता का प्रतीक है। वह वर्ग, जाति, संप्रदाय, धनी, निर्धन तथा महाजन-हरिजन के भेद से अतीत है।

कहाजाता है—नौजवानों मे आज धर्म के प्रति श्रद्धा नहीं

रही। इसमें नौजवानों का, जमाने का वातावरण का या शिक्षा पद्धति का ही एकमात्र दोष है—ऐसा मैं नहीं मानता। तथा कथित धार्मिक लोगों को भी मैं इससे बरी नहीं समझता जिन्होंने धर्म जैसी सार्वजनिक व पवित्र वस्तु को अपनी स्वार्थ सिद्धि का साधन मान संकीर्ण बनाडाला। युवकों बौद्धिक लोगों को यदि घृणा है तो इसीतरह के तथाकथित धर्म से है, जो संकीर्णता साम्प्रदायिकता तथा कलह का प्रतीक है। मुझे विश्वास है कि युवक व बुद्धिवादी लोग धर्म के नजदीक आना चाहते हैं। मेरा निजी अनुभव है—सहस्रों युवक शिक्षित व बुद्धिवादि मेरे संपर्क में आये और धर्म का व्यापक तथा असंकीर्ण रूप जान उसके प्रति निष्ठावान् बने।

यह कितना सुन्दर अवसर है कि जोधपुर में इस समय विविध फिरकों के साधुओं एवं आचार्यों का आना हुआ है। सबका कर्त्तव्य होना चाहिए कि असाम्प्रदायिक व व्यापक रूपमें धर्म-प्रचार का कार्य करें। जोधपुर धर्मपुरी बनजाये। जबकि धर्म के नाम पर महा-कुरितयाँ होती थीं आज वह जमाना नहीं है। धार्मिक कहलानेवाले आपसमें झगड़ें यह कहाँ तक शोभनीय है। नम्रता मिलनसारता पारस्परिक मैत्री ये तो वे गुण हैं जो प्रत्येक धार्मिक में होने आवश्यक हैं। धर्माधिकारी एवं धार्मिक जन एकदूसरे पर संकीर्ण भाव से दोषारोपण व छींटाकसी न कर जनता को शान्ति का रास्ता दिखायें। मैं अपनी ओर से साफ कहदेना चाहूंगा—जैसी कि

हमारी सदा से नीति रही है—वातावरण मे किसी भी तरह की सकीर्णता नहीं आने पायेगी ।

आज स्थिति यह है—लोग समाज व राष्ट्र को ऊँचा उठाने की बातें करते हैं, पर वे अपनी ओर झाकते तक नहीं कि उनका जीवन किधर जारहा है । मैं कहूगा—सबसे पहले आवश्यकता इस बात की है कि व्यक्ति-व्यक्ति अपनी बुराइयों को ढूढ कर उन्हें अपने मे से निकाल फेंकने के लिए कटिबद्ध होजाए । इससे समाज तथा राष्ट्र की स्वत उन्नति होगी । केवल पतन के गीत गाने से कुछ बनने का नहीं । यदि वे सही मानेमे उठना चाहते हैं, अपना व दूसरों का उत्थान करना चाहते है तो उन्हें त्याग तथा बलिदान के पथपर आना होगा ।

[ता० २२-७ ५३ को जोधपुर के नागरिको की ओरसे आयोजित स्वागत-समारोह के अवसर पर]

आत्म विकास और उसका मार्ग

आज चतुर्दशी है। जैन जगत्में चतुर्दशी का विशेष महत्त्व है। आज लोग अनेक प्रकारके त्याग प्रत्याख्यान रखकर आत्म विकासके मार्गका अनुसरण करते हैं। यों तिथियों और मुहूर्तोंमें किसी प्रकारकी विशेषता नहीं है। विशेषता तो मनुष्यके विवेकमें ही है। विवेकके अभावमें तिथियों और मुहूर्तोंका कोई मूल्य नहीं।

आजके दिन सब सोचें—हमें क्या करना है? मैं कहूंगा आजके दिन सबको कर्त्तव्यनिष्ठ बनना है। हां यह जरूर है कि पहले समझें—कर्त्तव्यनिष्ठा क्या होती है? कर्त्तव्यनिष्ठाको समझनेके बाद ही कर्त्तव्यनिष्ठ बना जासकता है। इसलिए कर्त्तव्यनिष्ठाको पहचानना सबसे पहले आवश्यक है।

चाण्डालसे नहीं चाण्डाल चौकड़ीसे घृणा करिये

आज आप और बातोंको जाने दीजिये। आज मैं उपस्थित साधु-साध्वी समाज और श्रावक-श्राविका समाज से यही कहूंगा

कि उन्हें कषाय विजय करना है। कषाय क्या है ? यह एक साकेतिक शब्द है। इसमे एक साकेतिक अर्थ छिपा हुआ है। सभी शब्दोंकी यही स्थिति है। उनमे कुछ न कुछ साकेतिक अर्थ छिपा रहता है। यहा कषाय से मतलब है— क्रोध, अभिमान, दम्भचर्या और लालच। जैन-साहित्य का यह एक पारिभाषिक शब्द है। दूसरे शब्दो में कषायको चाण्डाल-चौकडी भी कहाजाता है। लोग चाण्डालसे परहेज करते है। किन्तु उनके घर मे ही एक नहीं, दो नहीं बल्कि चार-चार चाण्डाल विराजमान है। ऊपर के चाण्डालको छूने से क्या बिगडता है ? वास्तविक चाण्डाल तो कषाय है—गुस्सा है। गुस्सेको छूने मात्रसे हानि और विनाश का कोई पार नहीं रहता। घृणा गुस्से से करिये। ऊपर के चाण्डाल से घृणा करना बेकार और निरर्थक है। कहीं चाण्डालसे घृणा इसलिये तो नहीं की जाती है कि वह आजीविकाके लिये मल जैसे घृणित पदार्थ को उठाता है। यदि घृणामे यही तथ्य है तो यह सरासर भूल है। मेरे ख्याल से सम्भवत चाण्डाल से घृणा करने का कारण उनका निम्नतम खान-पान है। वे निकृष्टतम अखाद्य और अपेय पदार्थोंका उपयोग करने लगे और उनका कोई उच्चतम आचार-विचार नहीं रहा। इसीलिये वे लोगोकी दृष्टि मे घृणाके पात्र बनगये है। किन्तु प्रश्न तो यह है कि घृणा करनेवालों में भी उनसे कुछ अन्तर है क्या ? आपने उदाहरण सुना होगा—

बाजारकी मुख्य सड़क पर एक चाण्डालिनी जारही थी। उसके सिरपर मरा हुआ कुत्ता रखा था। हाथमें मृत मनुष्य का खप्पर लिए हुए थी। दोनों हाथ खून से रङ्गे हुए थे। महान् आश्चर्य। साक्षात् राक्षसी सी प्रतीत होनेवाली वह चाण्डालिनी अपने आगे जल छिटक छिटक कर पैर रख रही थी। अकस्मात् सामने से एक ऋषि आ निकले। उन्हें इन अनेक विचित्रताओंके सम्मिश्रणको देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। उनसे रहा नहीं गया। वे उसके निकट आये निकट ही नहीं आये बल्कि अपनी जिज्ञासाको शान्त करने के लिये चाण्डालिनी से पूछ ही बैठे—

कर खप्पर सिर स्वान है लहू लगाये हस्त।

छिटकत जल चान्डालिनी ऋषि पूछत है वस्त ॥

ऐ चाण्डालिनी। क्या तू पागल होगई है? यह क्या कररही है? जन्म कर्म खान पान शरीर आदि सब बातों से अपवित्र होनेपर भी तूने यह क्या पवित्रता का पाखण्ड रच रखा है? चाण्डालिनीने ऋषि की ओर नजर डालते हुए शान्ति पूर्वक कहा—

तुम तो ऋषि भोरे भये नहीं जानत हो भेव।

हत्यारो की चरण रज छिटकत हूं गुरुदेव ॥

गुरुदेव! आप सन्यासी हैं। आप मेरी बात को क्या समझें? मैं कोई पागल नहीं हूं और न यह मेरी प्रवृत्ति ही

निष्प्रयोजन और पाखण्डयुक्त है। देखिये, वह देखिये, वह जो आगे एक व्यक्ति चला जारहा है, वह महान् कृतघ्नी है। उस जैसा कृतघ्नी दूसरा कोई नहीं है। मैं सोचती हू, कहीं उस कृतघ्नी की अपवित्र और और अस्पृश्य चरण-रज मेरे न लग जाय। इसीलिये मै जल छिटक कर चलरही हू। कहने का तात्पर्य यह है कि लोग अकृतघ्नताकी चीजें पेट में ठूंसे बैठे है और मान बैठे है अपने आपको सबसे बडे। क्या कृतघ्नी मनुष्य भी कहीं बडा कहलाने का अधिकारी है ? यदि आप वास्तवमे बडे, उच्च और पवित्र बनना चाहते हैं तो सबसे पहले उपरोक्त चार दुर्गुणों को छोडिये।

कषाय-विजय के साधन

शास्त्रोंमें इन चार दुर्गुणों पर प्रतिबन्ध लगानेके लिए सर्वश्रेष्ठ उपाय बतलाये गये हैं—

उवसमेण हणे कोह, माण मद्दवया जिणे।

मायमज्जवभाविणे लोह सन्तोसओ जिणे॥

आज औषधालयों और चिकित्सालयों की कोई कमी नहीं है। आये दिन नये-नये चिकित्सालयों की बाढ़-सी आरही है। किन्तु किसी भी औषधालय मे क्या आजतक कहीं भी क्रोध-रोग की औषधि दी जाती है ? क्या उस औषधि का कहीं निर्माण कियागया है ? भले ही उन बड़े-बड़े औषधालयोंमें चाहे क्रोध-रोग की औषधि न मिले किन्तु हमारे औषधालय मे

वह औषधि मिलती है मिलती ही नहीं बल्कि सहस्रों शताब्दियों से उसका सफल प्रयोग होता चला आरहा है। वह है शान्ति'। गुस्सेके सामने आप शान्ति का प्रयोग कर गुस्सा पिछले कदमों भाग खड़ा होगा। कोइ आप पर गालियों की बौछार करता है तो आप वापिस कुछ भी न बोलें। चुप्पी धारण करलें। यदि आप जानना चाहें कि वह कैसे प्रहण कर तो छात्रिय मैं आपको एक छोटा-सा किस्सा याद दिला दूं। बादशाह अकबर और बीरबलमें सदा हंसी-मजाक चलती ही रहती थी। एक दिन बादशाहने बीरबल से कहा—'बीरबल! तू तो बड़ा अक्लमन्द है किन्तु तेरा बाप कैसा है? यह मैं जानना चाहता हूं। बीरबल बोला—'जहांपनाह! जिस खानके हीरेको आप देख रहे हैं फिर उस खान को देखने का क्या मतलब? किन्तु बीरबल की यह सूझ कुछ भी काम नहीं आई। बादशाह अपनी जिद पर तुला हुआ था। बीरबल आखिर बात को टालने के समस्त उपायों से असफल होगया। बादशाह ने उसे दो आदेश देकर बिदा किया। एक तो यह कि अपने पिताको शीघ्र राजसभामें उपस्थित करो' और दूसरा यह कि 'उस समय तुम अपने घर पर ही रहो। आखिर बादशाह का बादशाह कौन? बीरबल घर आया। उसने अपने पिता को नमस्कार करते हुए कहा—पिताजी! आपको आज बादशाहने राजसभा में आमन्त्रित किया है। पिता के होश उड़ गये। वे भला कब राजसभा में और कब बादशाह के सामने गये थे। फिर वे अपनी शक्ति

और सामर्थ्यसे भी तो परिचित थे। बादशाह के सामने बोलना कोई खेल नहीं था। जब उन्हें यह पता चला कि उस समय बीरबल भी साथ नहीं रहेगा, तब तो वे और भी घबराये। हां, यदि बीरबल साथमें होता तो वह किसी न किसी तरह किसीभी परिस्थितिको सम्भाल लेता। पिताने बीरबलसे कहा—'बीरबल! मुझे यह तो बताओ कि मैं बादशाहके सामने जाकर क्या करूं, क्या बोलूं और कुछ पूछे तो क्या कहूं ?' बीरबलने कहा—'पिताजी! मैं आपको एक ही बात कहता हूं कि आप वहां पर जाकर बिल्कुल चुप रहें। हां, बादशाहको झुककर सलाम अवश्य करें किन्तु बोलें कुछ नहीं। चाहे बादशाह नाराज होकर आपको तरह-तरहके बुरे शब्द और कटु गालियां दें किन्तु आप उस समय कुछ भी न बोलकर चुप रहें। फिर जो कुछ होगा, उसे मैं अपनेआप सम्भाल लूंगा।' यह कहकर बीरबल ने तुरन्त पिता को राजसभा में भेज दिया। बीरबलके कहे अनुसार वे बादशाह को सलाम कर उनके सामने चुपचाप खड़े होगये। बादशाहने हसते हुए कहा—'बीरबल के पिता आगये क्या ?' वे वापिस कुछ न बोले। बादशाह का कथन सुना-अनसुना कर दिया। यह देखकर बादशाह एकदम तमक उठे। उन्होंने गरज कर कहा—'अरे! सुनते हो या नहीं ? क्या बिल्कुल ही बहरे हो ? मैं क्या पूछता हूं ?' फिर भी वे तो कुछ नहीं बोले। अब बादशाह से नहीं रहा गया। उनके क्रोध का पारा अपनी चरम सीमा पर पहुंच गया। वे बुरी

तरह बकने लगे—'अरे ! यह कौन बेवकूफ गधा यहां आगया। इसको कुछ तमीज ही नहीं है। निकाल दो इसे। फिर क्या था ? बेचारे अपमानपूर्वक निकाल दिये गये। उनके दिल में बड़ा रंज हुआ। वे सोचने लगे बादशाह रुष्ट होगये न जाने अब क्या होगा ? इसप्रकार वे चिन्ता करते घर पहुंचे। बीरबलने सारा किस्सा सुना। वह पिता को आश्वासन देकर उसी समय राजसभामें आया। राजसभा में तो हंसी मजाकों के मानो बड़े ठहके लग रहे थे। बीरबल को नीचा दिखाने में बादशाह को स्वर्गीय सुख का अनुभव होता था। इसीलिये बादशाह ने यह सारा नाटक रचा था। बीरबलके आने पर तो अब सारी राजसभा ही अट्टहास से एक साथ गूंज उठी। बाद शाह को प्रणाम कर अपने स्थान पर बठते ही बादशाह ने आंखों के साथ हंसते हुए प्रश्न किया।—अरे बीरबल ! यदि बेव कूफों से पाला पड़ जाय तो क्या करना ? बीरबल ने तपाक से उत्तर देते हुए कहा।—'जहांपनाह ! चुप रहना। ओह ! उत्तर क्या था बम का गोला था। बादशाहकी सारी आशायें और हंसी पर क्रूर तुषारापात होगया। वे एकदम चुप हो गये मन ही मन बीरबल पर बड़ी कुढ़न हुई। हाय ! यह कैसा व्यक्ति है इसने तो उल्टा मुझे ही बेवकूफ बना दिया। यह किस्सा और चाहे कैसा ही हो हमें तो इससे यही शिक्षा लेनी है कि यदि बेवकूफों से गुस्सेबाजों से काम पड़जाय तो बिलकुल चुप रहना। चुप रहनेमें ही गुण है अन्यथा न जाने

सड़कोंपर कितने ही बेवकूफ मिलते हैं, क्या उनसे बराबर बोल-कर उनके साथ सिरफोड़ी की जाय? गाली देनेवालेको वापिस गाली देनेवाला भी उस जैसा ही बेवकूफ बन जाता है। आप एक दृष्टिकोण रखिये। गुस्से पर आपको काबू करना है। सारी दुनिया पर काबू करना सरल है, करोड़ों आदमियों को जीतना सरल है किन्तु अपनेआप पर काबू करना बहुत कठिन है। दुनिया पर काबू करनेवाले अपने मन और अपनी इन्द्रियों के आगे हार खागये, शिथिल पड़ गये और निस्तेज बन गये। वह मनुष्य महान् मनुष्य है, परमात्मा का साकार अंश है जो अपने पर काबू रखता है। आप विचार करिये— कोई आपको गुस्से मे आकर गाली देता है तो क्या आपका कुछ बिगड़ता है? आप इस श्लोक को याद रखिये—

'ददतु ददतु गालिं, गालिवन्तो भवन्त ,
वयमिह तदभावात्, गालिदानेऽप्यसक्ता ।
जगति विदितमेतद्, दीयते विद्यतेतद्,
नहि शशक-विषाणं कोपि कस्मै ददाति'॥

'हा-हा दो-दो श्रीमान्। और गाली दो।' 'अरे वाह! मैं ही मै क्यों? वापिस आप क्यों नहीं देते? भाई साहब! मैं कहाँ से दूं? मैं क्या गालीवान् हूं जो दूं? आप ही गालीवान् हैं।' यह जगत प्रसिद्ध बात है कि जिसके पास जो होता है, वह वही देता है। क्या खरगोश के सींग कोई किसीको दे सकता है? यह

सुनकर वह गाली देनेवाला अपने आप शर्मिन्दा होकर चुप हो जायगा और वह करेगा ही क्या ?

अतृणे पतितो वह्निः स्वयमेवोपशाम्यति ।

घास-फूस रहित स्थानमें पड़ी हुई अग्नि भक्ष्य न पाकर अपने आप शान्त होजाती है। इसलिये दुष्ट और गुस्सेवालोंसे भिड़ने में कोई लाभ नहीं होता। उनसे तो दूर रहनेमें ही फायदा है।

हां राजनीति का मार्ग इससे अवश्य भिन्न है। वहां तो यहां तक कहा जाता है कि—

गन्धक दुष्ट गुलाम कुचकाटयों चोथों पड़े

कूट्यो आवे काम नरमी मली न राजिया ।

यह कथन धर्मनीति का नहीं राजनीति का है। धर्मनीतिका तो यह कहना है कि यदि दुष्ट मिलजाय तो उससे दस हाथ दूरसे निकलो। अत सबसे पहल गुस्सेको जीतो। गुस्सेको जीतनेके बाद अभिमानको मृदुता–सरलतासे जीतो। गुस्सा और अभिमानका अन्योन्य-सम्बन्ध है। जहां गुस्सा वहां अभिमान अवश्य मिलेगा और जहां अभिमान वहां गुस्सा। गुस्से और अभिमान को पराजित करने के बाद दम्भचर्या और लालच को कोमलता और सन्तोष वृत्तिसे परास्त करो। साधु-सन्तोंका तो यह सबसे पहला कर्त्तव्य है कि वे कषाय से बिलकुल परे रहें। यदि ऐसा नहीं करते हैं तो वे औरोंका क्या कल्याण करेंगे ? साधुओंको दोनों काम करना है—तिरना और तारना उठना और उठाना

जागना और जगाना। उन्हें खयाल रहे वे वीतरागके मार्गपर अग्रसर हुए हैं। साहसपूर्वक अन्तरङ्ग शत्रुओ पर आक्रमण करते हुए आगे बढ़ें। उन्हें अवश्य रास्ता मिलेगा और सफलता उनके चरण चूमेगी।

समय का सदुपयोग

दूसरी बात है—समय को कैसे बिताया जाये। आप सोचें, मनुष्यका कीमती समय कितना बेकार जारहा है। मनुष्य उसके मूल्यको नहीं समझता। यह खयाल रखिये—जो अमूल्य समय आपके हाथोंसे निकलरहा है वह मुड़कर कभी नहीं आयेगा। जो अपना सारा समय खाने, पीने और तुच्छ क्रियाओमे ही गवा देते है, न सत्सङ्ग करते है और न सत्साहित्य का अध्ययन, न आत्मलोचन करते हैं और न आत्मानुसन्धान उनका जीवन 'अजागलस्तनस्येव तेषा जन्म निरर्थकम्'—बकरीके गले में पैदा हुए स्तनोंके समान बिल्कुल बेकार और निरर्थक है। जीवन सफल और सार्थक उनका ही है जो अपने बहुमूल्य समयको सत्प्रवृत्तियों मे लगाते है। कहा भी है—

काव्यशास्त्रविनोदेन, कालोगच्छति धीमताम्।

व्यसनेनैव मूर्खाणा, निद्रया कलहेन वा॥

विद्वानों का हर क्षण काव्य और शास्त्रोंके विनोद मे बीतता है और इधर मूर्खोंका हर क्षण लडाई-झगड़े, फिसाद, प्रमाद और निद्रामे बीतता है। इससे फलितार्थ यह निकलता

है कि जो समय को अच्छी प्रवृत्तियोंमें लगाते है व विद्वान है और जो समय को दुष्प्रवृत्तियों में खोते है व निर मूल्य हैं । संक्षेपमें यह समझिये कि जिसने अपना समय व्यय खो दिया उसने अपनी जिंदगी ही खो दी। इसलिये समयका मूल्य आंकिये— मिनट मिनट का बटवारा कीजिये। सायकालीन प्रार्थनामें हम प्रभुसे यही तो प्रार्थना करते है कि हे प्रभो ! हमारा प्रतिपल सफल व्यतीत हो। प्रतिपल हम यही सोचें कि हमने जो-जो नियम ग्रहण किये हैं, उनपर हमारी दृढ़ निष्ठा बनी रहे। यश और पदलोलुपता से परे रह कर हम हर पल आगे बढ़ते रहें। विकारों की शृंखला को खण्ड-खण्ड कर हम अपनी अन्तिम मंजिलको पानेका सतत प्रयोग जारी रखें।

प्रार्थना का तत्त्व

वास्तवमें उपरोक्त भावना ही सच्ची ईश्वर प्रार्थना है। मन्दिर मस्जिद और धार्मिक स्थानोंमें जाकर प्रभुसे धन सम्पत्ति और पुत्र की प्राप्तिके लिये याचना करना प्रार्थना नहीं स्वार्थ-साधना है। यह कितनी बड़ी अज्ञान भरी बात है कि लोग तनिक से चढ़ावेसे अपनी सारी भौतिक मनोकामनायें पूर्ण करना चाहते हैं। यह ऐसेकि साथ आंख मिचौनी नहीं तो और क्या है ? हम प्रभु से याचना करें, प्रार्थना तो हम अपनी आत्मासे ही करते हैं, प्रभु तो हमारी प्रार्थना के साक्षी हैं। हम यही कहें कि प्रभो ! हमारे प्राण भले ही छूट जायें किन्तु हम अपनी मर्यादा पर—

अपने प्रणपर सदा अटल रहें। हम यह न कहें कि प्रभो! हमारे पर कोई विपत्तिका तूफान आये ही नहीं किन्तु यह कहें— प्रभो! अगर हमारे सिर पर विपत्ति का तूफान आये तो हम सहिष्णुतापूर्वक उसका डटकर सामना करें। हम कभी घबरायें नहीं। हमारा मनोबल सदा मजबूत रहे। हमारे पल-पलका सदा सदुपयोग हो।

उपसहार

अन्तमे मैं सब लोगोंसे यही कहुगा कि वे कषाय पर विजय पाकर और समय के मूल्यको पहचान कर अधिकसे-अधिक जीवन को विकसित और सफल बनायें। स्वार्थसाधनकी वृत्तियोको त्यागकर उनके स्थानपर जीवन मे आध्यात्मिक प्रवृत्तियों को स्थान दें, जीवन मे नैतिकता पनपायें और धर्मको उतारें। यह आशा करता हुआ मैं आजके वक्तव्य को समाप्त करता हूं।

ता०२३-७ ५३
जोधपुर (राजस्थान)

थके का विश्राम

शान्ति लाने के लिए बड़े-बड़े युद्ध लड़ गये। लाखों मनुष्यों की लाशों से भूमि पट गई करोड़ों मनुष्यों के करुण क्रन्दन से दुनिया चीत्कार उठी पर वह शान्ति वह अमन कहाँ? जिसके लिए भीषण अत्याचार हुए। कोरिया की हाल की सन्धि इसका जीता-जागता सबूत है। वैज्ञानिक अस्त्र-शस्त्रों से सजी समर भूमि में जूझती हुई दुनिया की बड़ी-बड़ी ताकतों ने आज घुटने टेक दिये हैं और यह महसूस किया है कि जो बात मैत्री प्रेम और सद्भावना से बन सकती है वह रक्तपात और हिंसा से बन नहीं सकती।

कोरिया के महासमर में मारे गये और अपंग बने सिपाहियों व नागरिकों के लम्बे आंकड़े सुन दिल दहल उठता है। वैज्ञानिक तथा उन्नत कहे जानेवाले आज के संसार की यह खूनी प्यास क्या विज्ञान व उन्नति के नाम एक विडम्बना नहीं? मैं स्पष्ट

कहूंगा—शान्ति लाने का यह तरीका उतना ही गलत है, जितना कि बालू से तेल निकालना। आजतक का इतिहास इसका साक्षी है कि जैसे आग से आग बुझ नहीं सकती, उसी तरह हिंसा से हिंसा मिट नहीं सकती। यदि ससार शान्ति चाहता है तो उसे अहिंसा, समानता और सन्तोष को अपनाना होगा।

आज निर्माण का समय है। युद्धों, संघर्षों और मनमुटावों के मूल कारण अनीतिमय एव स्वार्थपूर्ण दृष्टिकोण को मिटा, नि स्वार्थवृत्ति, सद्भावना एवं सयत आचरण को बढ़ावा देना है। भाईचारे को आगे रखते हुए मैत्री व समता के वातावरण को प्रतिष्ठित करना है। संसार के बच्चे-बच्चे को आज इसके लिए लगजाना है। ऐसा होने से ही आये दिन के युद्धों और सघर्षों से छुटकारा मिल सकेगा।

ता०-२-८-५३

केवल भवन, मोती चौक, जोधपुर

जीवन-विकास और आजका युग

जीवन और विकास

जीवन और विकास ये दो शब्द हैं। दोनों को समझना है। जीवन को समझे बिना विकास समझ में नहीं आ सकता। अगणित कोटि के जीवन में जो सबसे महत्त्वपूर्ण और बहुमूल्य जीवन है वह है मानव जीवन। सब दर्शनोंने मानव-जीवनकी दुर्लभता और बहुमूल्यता एक स्वर से गाई है। सहसा प्रश्न उठेगा—मानव जीवन में ऐसा क्या है जो उसकी इतनी महत्ता गाई जाती है? उत्तर सीधा है—जो वस्तु थोड़ी दुष्प्राप्य और कीमती होती है उसकी महत्ता अपनेआप फैल जाती है। यही बात मानव जीवनमें लागू होती है। वह बहुत कम दुष्प्राप्य और कीमती है। मानवको सोचना चाहिये कि इस बोझसे समयमें मेरा वास्तविक कार्य क्या है? मेरा जीवन कैसा है और किधर

जारहा है? वह मिथ्या-छलनामे न फँसे। मिथ्या गर्वसे अपनेआपको बचाये। हृदय, दिमाग, बुद्धि, यौवन, रूप, संपत्ति, आयु आदिके मिथ्या आडम्बरो—प्रलोभनोमे फँसकर अपनी गतिको कुँठित न करे। इन चीजोपर वह गर्व किस बातका करे। गर्व करना हास्यास्पद है। महर्षियोने कहा है—

आयुर्वायुतरत्तरंगतरलं लग्नापदः सम्पदः।
सर्वेपीन्द्रियगोचराश्च चटुलाः सन्ध्याभ्ररागादिवत् ॥
मित्र-स्त्री-स्वजनादिसंगमसुखं स्वप्नेन्द्रजालोपमम्।
तत्किं वस्तु भवे भवेदिहमुदा मालम्बनं यत्सताम् ॥

आयु वायुकी चपल लहरोकी तरह अस्थिर है। सपत्ति आपत्तियोसे घिरी हुई है। है ही। सम्पत्ति है तो पुत्र नहीं है, पुत्र है तो विनीत नहीं है या स्वयं रोगादि कारणों से इतना निर्बल है कि उस सम्पत्तिका कुछभी उपभोग नहीं कर सकता। इन्द्रियों के सारे विषय सान्ध्य-बादलोंकी क्षणिक रंगरेलीके समान हैं। मित्र, स्त्री, स्वजन आदिका संयम-सुख स्वप्न या इन्द्रजालके समान मिथ्या है। फिर भला ससारमे ऐसी कौनसी वस्तु है जो मनुष्यके लिये आनन्दका आलम्बन बन सके—गर्वको उत्तेजना दे सके?

जीवन का लक्ष्य

जीवनका लक्ष्य क्या है? उसको टटोलिये। वह कहीं बाहर मिलनेवाला नहीं है, अपने भीतर ही खोजिये। आत्माव-

जीवन कीजिये। यह है—जीवनका जागरण विकास और निर्माण। इसके लिए आप कमर कसकर तैयार होइये। जीवन का विकसित करना है। अब एक क्षण भी व्यर्थ खोना ठीक नहीं। क्योंकि भगवान महावीरने चेतावनी देते हुये कहा है।

जरा जाव न पीलेइ वाही जाव न वड्ढइ।

जाविंदिया न हायंति ताव धम्मं समायरे॥

जबतक वृद्धावस्था पीड़ित न करे, रोगोंका आक्रमण न हो और इन्द्रियां क्षीण न पड़ें तबतक जितना होसके, उतना धर्म-संचय करनेका अविलम्ब प्रयत्न करो।

यदि इस विषय में लापरवाहीकी तो फिर ऐसा अवसर सुलभ होना अत्यन्त दुष्कर है। 'जा जा वच्चइ रयणी न सा पडिनियत्तइ' जो-जो रात्रियां बीतरही हैं वे लौटकर नहीं आयेंगी इसलिये समयं गोयम मा पमायए क्षण मात्र भी प्रमादमें व्यय मत खोओ।

आत्मानुशासन

आप पूछेंगे जीवनका विकास कैसे होता है?

जीवन विकासके अनेक मार्ग हैं। हां हैं वे अवश्य पुराने। आज विज्ञानका समय है। सबको नई रोशनी चाहिये। किन्तु हम पुराने और नयेके झगड़ेसे परे हैं। मैं न तो कट्टर पुराण-पन्थी ही हूं और न कट्टर नवीन-पन्थी ही। जिसमें मुझे जो वस्तु अच्छी मिलती है उसे मैं ग्रहण करनेका सदासे पक्षपाती हूं।

जीवन विकासका सबसे महान् सूत्र है—आत्मानुशासन। लोगों ने विदेशी हुकूमतसे मुक्त होकर स्वाधीनताका वरण किया पर मैं समझता हू उनकी आत्मा से अभी भी विदेशी हुकूमत नहीं उठी है। यहाँ विदेशी शब्दसे मेरा मतलब देश-विदेशसे नहीं वरन् उनपर स्वयंकी आत्माका अनुशासन न होकर आत्मातिरिक्त-प्रलोभनोका अनुशासन है। इस परानुशासनको हटाये विना वास्तविक आजादी कहाँ ? परानुशासनको हटानेके उपाय हैं—सयम,चरित्र और नियंत्रण। संयम क्या है ? आत्मानुशासन का विकसित रूप ही संयम है। वह कब होगा ? इस महत्वपूर्ण पाठको जीवन मे उतारनेसे—

जो सहस्स सहस्साण संगामे दुज्जए जिणे ।
एग जिणेज्ज अप्पाण एस से परमो जओ ।

सग्राममे सहस्रों योद्धाओंको जीतनेवालेसे भी वह व्यक्ति महान् विजेता है जिसने अपनी आत्माको जीत लिया है। वास्तवमे आत्म-विजय ही सबसे बडी विजय है। इसीलिये तो कहा है—

अप्पाणमेव जुज्झाहि किं ते जुज्झेण बज्झओ—"हे प्राणी ! तू अपनी आत्माके साथ सग्राम कर, उस पर विजय पा। दूसरोंके साथ संग्रामकर उनपर विजय पानेसे तुझे कोई लाभ नहीं होगा ? अपनी विजय ही परम-विजय है। वह सयम और आत्म-नियन्त्रणसे ही सम्भव है।

स्व-सुधार या पर-सुधार

आजका समय बड़ा विचित्र है। लोग अपने आपको नहीं देखते। दूसरोंकी बड़ी लम्बी-लम्बी आलोचना करने को तयार रहते हैं। अपने बड़े-बड़े दोष भी नजर नहीं आते और दूसरोंके अति तुच्छ दोष भी बहुत बड़े रूपमें नजर आने लगते हैं। महर्षि भर्तृहरिने ठीक ही कहा है—

परगुणपरमाणून् पर्वतीकृत्य नित्य

निज हृदि विलसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः

—दूसरेके परमाणुतुल्य – अति तुच्छ गुणोंको पर्वतके समान अति महान् समझ प्रसन्न होनेवाले सज्जन पुरुष कितनेक हैं। इसके विपरीत आज उन लोगोंका कोई पार नहीं जो अपने तो पर्वत तुल्य अति महान दोषोंको अन्दर के अन्दर छिपा रखते हैं और दूसरों के परमाणु-तुल्य—अति तुच्छ दोषोंको पर्वत समान् अति महान् बनाकर सर्वत्र डंका पीटते फिरते हैं। दूसरों के दोषोंकी आलोचना करने का वही अधिकारी है जो स्वयं बिलकुल निर्दोष हो। इस सम्पूर्ण सत्य -सिद्धान्त को हृदयंगम करने के लिये महात्मा ईसाका किस्सा अत्यन्त सामयिक है।

बादशाह ने चोरको प्राण-दण्डका आदेश दिया। वह भी नये ढंगसे। बादशाह ने सारे नगर में एलान कराया कि नगर के सारे लोग नगर के बाहर चले जायें और एक-एक पत्थर हाथमें लेकर चोर पर प्रहार करें। नगर के बाहर तमाशा-सा लगगया। एक निश्चित स्थान पर चोरको खड़ा

किया गया। उसकी दशा बडी दयनीय थी। वह मन ही मन सोचरहा था कि यदि मैं इसबार छूट जाऊं तो आगे फिर कभी चोरी नहीं करूंगा। एक तरफ पत्थरों का ढेर लगा हुआ था। तमाशा देखने और तमाशे के सक्रिय पात्र बनने के लोभ से नगर के समस्त लोग वहा पर उपस्थित हुए। चोर पर प्रहार करने के लिये ज्यो ही लोगोंने अपने हाथोंमे पत्थर उठाये त्यों ही महात्मा ईसा मसीह वहापर सहसा आ निकले। वे इस अनैतिकतापूर्ण भीषण दृश्यको देखकर काप उठे। उन्होने एक ऊचे टीलेपर चढकर लोगोंको एक सलाह देते हुये कहा—"बन्धुओ! मे आपको कोई आज्ञा देनेके लिये खडा नहीं हुआ हूं। मैं तो आपको एक तुच्छ सलाह देना चाहता हू। वह यह है कि आप मे से चोर को पत्थर से वही व्यक्ति मारे जिसने कि अपने जीवन मे कभी प्रत्यक्ष या परोक्ष मे किसी प्रकार की चोरी न की हो। आप दो क्षण विशुद्ध आत्म-चिन्तन-पूर्वक सोचे कि आपने कभी चोरी तो नहीं की है? चोरी का मतलब सिर्फ यही नहीं है कि किसीकी तिजोरी तोडकर पैसा उडाना। दूसरे के अधिकारों को छीनना और शोषण करना भी चोरीके प्रमुख अगोंमेंसे है।" लोगोंपर महात्मा ईसाकी बातका जादूका सा असर हुआ। उन्होने विचार किया हम चाहे प्रत्यक्ष चोर न हों किन्तु परोक्ष चोर तो है ही। एक-एक कर सारे लोग वहासे खिसक गये। किसीने भी साहूकारीका दम भरकर चोरपर प्रहार नहीं किया। राजपुरुषों मे सारी

स्थिति बादशाह तक पहुँचाई। बादशाह ने रोषपूर्वक ईसाको पकड़कर बुलवाया। ईसाने राज्य-मजलिस में खड़े होकर निर्भीकतापूर्वक बादशाहके सामने सारी घटना उपस्थित की और अन्तमें बादशाह से भी यह निवेदन किया कि—"जहाँपनाह! आपभी विचार करें, क्या आप सच्चे अर्थमें साहूकार हैं? क्या आपने पर-अधिकारोंको जबरदस्ती से नहीं छीना है?" बादशाह अवाक् रह गया। महात्मा ईसाने आगे कहा—"मैं यह नहीं कहता कि चोरको दंड नहीं देना चाहिये। किन्तु दण्ड ऐसा तो न होना चाहिये जो मानवीय नीतिकी सीमा का हो लघन जाय। दण्ड में भी एक नीति होती है—उसका तो अतिक्रमण नहीं होना चाहिये। बादशाह महात्मा ईसाके आगे नतमस्तक हो गया। उसने अपना अपराध स्वीकार करते हुये उसी समय चोरको भविष्यमें चोरी न करने की शिक्षा देकर छोड़ने का आदेश दिया। यही बात आजके लिये है। लोग अपने आपको नहीं देखते। औरोंके लिये निरन्तर कटु-कटाक्ष करते रहते हैं। आज जो बड़े-बड़े अधिकारी कानून और नियम बनाते हैं खुद वे ही सबसे पहले उन कानूनों और नियमों की अवहेलना करते हैं। कानून बनानेवाले ही जब कानूनका भंग करेंगे तब दूसरे उसको कैसे पालेंगे? और कैसे वे दूसरों से पालनेकी आशा भी कर सकेंगे। यह न न्याय ही है और न मानवीय आदर्श ही।

लोग औरोंको सुधारने की बात करते हैं किन्तु स्वयं सुधरना

की क्यों नहीं करते ? औरोंको सुधारनेसे तो बेहतर है वह पहले स्वय सुधर लें। स्वयंके सुधारको भूलकर आज लोग पर-सुधार की चिन्तामे पड़े हुये है। यह अनुचित है। आत्मावलोकन कीजिये—देखिये—मेरे सुधारकी सीमा क्या है? और मेरी सुधारकी गति किस रफ्तार से चलरही है? मैं मेरे साथ छलना, दंभ और अन्याय तो नहीं कर रहा हू? यह निश्चित समझिये बिना आत्म-चिन्तनके आत्म-नियन्त्रण जागृत नहीं हो सकता। आत्म-नियन्त्रणके अभावमे संयम सम्भव नहीं और सयमके बिना विकासकी बातें गगनकुसुमकी तरह निरर्थक हैं। इन परमार्थ सारगर्भित बातोंको कौन सोचे। देखिये—इन साधुओं ने आत्म-विकासकी जागृतिके लिये कठोरातिकठोर सयम-मार्ग को अपनाया है। आत्म-दमन किया है। आप यदि पूर्ण सयमकी साधना नहीं कर सकते तो अशत तो उसका पालन कीजिये। ऐसा करने से भी आप बहुत सी बुराइयोंसे बच सकेंगे। जबतक ऐसा नहीं किया जायेगा तबतक आत्म-विकास सम्भव नहीं।

हिंसा पर नियन्त्रण

बुराई से बुराई कभी मिट नहीं सकती। हिंसा से हिंसा ही बढ़ती है। हिंसासे हिंसाको मिटाने का प्रयत्न अग्निको बुझानेके लिए उसमें घृत डालनेके समान है। हिंसाका प्रतिकार अहिंसासे ही किया जा सकता है। अहिंसा की प्रबल शक्तिके सामने वह अपनेआप मर मिटेगी। लेकिन यह सोचना गलत होगा कि

संसार से हिंसा बिलकुल खत्म हो जाय। क्योंकि जबतक काम क्रोध मद, लोभ आदि दुर्गुणों का अस्तित्व रहेगा तबतक हिंसा का अभाव होना असम्भव है। यह होते हुए भी अहिंसा को अधिक आदर और उसको उस दृष्टि से देखना कल्याणकारी है। हिंसा और अहिंसाकी मात्रा पर ध्यान रखना आवश्यक है। हिंसा संसार से बिलकुल मिट न सके। फिरभी उसकी मात्रा अनावश्यक अधिक न बढ़जाय इस ओर जागरूक रहना भी आवश्यक है। इसके साथ-साथ अहिंसा की मात्रा क्रमश अधिकाधिक बढ़ती रहे वह हिंसा को दबाये रखे। उसको संसार पर हावी न होने दे उसको अंकुश न होने दे और अपनी प्रधानता कायम रखे इस तथ्य को आंखों से ओझल न होने देना ही हिंसा की मात्रा रोकने का सफल प्रयास है।

अपने आपका वाद

समस्त सुधार और विकासका आधार अध्यात्मवाद है। अध्यात्मवाद क्या है? इसको समझना बिलकुल सरल है। आप आत्मा परमात्मा पुनर्जन्म आदिमें जाकर उलझ पड़ते हैं। मेरी दृष्टिमें ये कोई इतनी बड़ी उलझनें नहीं हैं। फिरभी ये कुछ गहन और गम्भीर तो हैं ही। अध्यात्मवादसे आप इतना ही समझिये कि— अपने आपका वाद। दूसरे शब्दोंमें— 'अपने लिए अपना नियन्त्रण—संयम। आपके मनमें आशंका होगी— आत्मा क्या है? परमात्मा क्या है? मैं कहता हूं आप इन बातों को एकबारगी छोड़ दीजिये। ये अति गम्भीर प्रश्न हैं। उनसे

कम इतना समझिये—आपको अपना जीवन बिगाड़ना नहीं है। आत्म-नियन्त्रण इस जीवन मे तो सुख और शान्तिप्रद है ही अगर अगला जीवन भी है तो उसके लिए भी वह ठीक ही है। सम्भवत जोधपुर की ही बात है—एक राज्याधिकारी हमारे गुरु महाराज के पास आकर कहने लगे—"महाराज! आपसे एक सवाल है। आप जो सारी सुख-सामग्रियो को ठुकराकर इतनी कठोर साधना कर रहे है—आत्म-नियन्त्रण कर रहे हैं, अगर अगला जीवन नहीं हुआ तो आपकी यह कठोर तपश्चर्या और आत्म-नियन्त्रण यों ही व्यर्थ जायेगा और आप इस जीवन के सुखों से भी वंचित रहेंगे।" गुरु महाराज ने सस्मित उत्तर देते हुए फरमाया—"आपकी बात मिल गई तो सिर्फ इतना ही तो होगा कि हम इस जीवनकी भौतिक सुख-सुविधाओंसे वंचित रह जायेंगे। किन्तु हमारी बात ठीक निकल गई तो, आप जो साधना और आत्म-नियन्त्रण को व्यर्थ समझ कर भौतिक सुख-सुविधाओं में आकण्ठ डूबे हुए है, फिर क्या हालत होगी?" इसलिए आत्म-नियन्त्रण तो सदा ही अच्छा और उपयोगी है। यदि अगला जन्म है तबभी और यदि न है तबभी। यह स्पष्ट है कि जब तक आत्म-नियन्त्रण नहीं होगा तबतक आत्म-भय भी नहीं होगा और आत्म-भय के अभाव मे आत्म-विकास का स्वप्न ही कैसा? आत्म-भय के अभाव मे ही मनुष्य ऐसा निन्द्यकार्य करने लगता है कि चलो कोई देखे तो पाप नहीं करेंगे और जहा कोई देखनेवाला नही है वहाँ पाप करने मे क्या हानि

है ? ऐसे व्यक्ति यह नहीं सोचते कि चाहे कोई व्यक्ति देखे या न देखे किन्तु तू स्वयं तो देख ही रहा है। इसके विपरीत जहां आत्म-भय होगा वहां व्यक्ति यही सोचेगा कि चाहे कोई देखे या न देखे, मैं तो देख ही रहा हूं। इस सारपूर्ण अन्तर के होते ही मनुष्य की समस्त गुत्थियां सुलझने लगेंगी।

धर्म क्या है ?

अध्यात्मवाद की नींव धर्म पर टिकी हुई है। धर्म क्या है ? जो आत्मा की शुद्धि के साधन हैं वही धर्म है। धर्म प्रलोभन चमत्कार और बलप्रयोग से नहीं होता। धर्म जिन्दगी को बदलने से होता है, अन्याय्य अत्याचार और शोषण से मन रखने से होता है। इसलिये जिन्दगी को बदलो, अत्याचारों से मन रखो और जिन्दगी को सुधारो।

शिक्षा प्रणाली

लोग कहते हैं आजकी शिक्षा-प्रणाली ठीक नहीं है। यह सही है, जिस शिक्षा प्रणाली में आत्मानुशासन और आत्म जागरण को स्थान नहीं वह शिक्षा-प्रणाली अधूरी अपूर्ण और विनाशकारी है। शिक्षा वही है जो आत्मानुशासन सिखाती है। सा विद्या या विमुक्तये यह पद शिक्षाके मौलिक उद्देश्यपर प्रकाश विशद प्रकाश डालता है। वह क्या शिक्षा जिसमें आत्मानुशासन और आत्म-जागृतिके तरीके नहीं बताये जाते ? इससे तो कहीं प्राचीन शिक्षा-प्रणाली अच्छी थी—जिससे आत्म-पतन नहीं होता था। इसलिए ऐसी शिक्षा की आवश्यकता है जो आत्म-

नियन्त्रण और सयम का पाठ पढाये। इस विषय मे मे कहूगा—शिक्षकों को विशेष जागरूक होने की आवश्यकता है। उनके हाथो मे देश की सबसे बडी सम्पत्ति है। मे धन-दौलतको वास्तविक संपत्ति नहीं मानता। वास्तविक सम्पत्ति है छात्र और छात्रायें। यह सम्पत्ति शिक्षको के हाथमे है। शिक्षक उन्हें जिधर बहायेंगे उधर ही बहेंगे। इसलिए मेरा उनसे अनुरोध है—वे इस बहुत बडी सम्पत्ति को बिगाड न दें। वे स्वय अपने जीवन के विकास, जागृति, अध्ययन और निर्माण से इस सम्पत्ति का विकास, जागरण, उन्नयन और निर्माण करें। जैसे एक दीपक से सहस्रों दीपक जलाये जा सकते है उसीप्रकार अपने जीवन से कोटि-कोटि छात्र-छात्राओ का जीवन जगाये। इससे वे समाज, देश और राष्ट्र का हित करने मे बहुत बडा हाथ बटायेंगे।

व्यक्ति सुधार और समाज सुधार

व्यक्ति-सुधार समाज-सुधारकी रीढ है। मुझे समाज, जाति, देश या राष्ट्र-सुधार की चिन्ता नहीं, मुझे व्यक्ति-सुधार की चिन्ता है। चाहे आप भले ही मुझे स्वर्थी कहें, किन्तु मेरा यह निश्चित अभिमत है कि व्यक्ति-सुधार ही सब सुधारो की मूल भित्ति है। समाज किस चीज का नाम है ? व्यक्तियो के समूह को ही तो समाज कहते है। तब यदि व्यक्ति-व्यक्ति सुधरा हुआ होगा, तो समाज अपनेआप सुधरा हुआ होगा और इसी तरह फिर देश-राष्ट्र आदि भी अपने आप सुधरे हुए होगे। व्यक्ति

अपने सुधार को ताकपर रख समाज, देश और राष्ट्र सुधार की बड़ी-बड़ी गप्पें हांकता है वह तो ऐसा लगता है—'दुविधा में दोनों गये माया मिली न राम'—इसलिए व्यक्ति का सुधार आवश्यक है। उसके बिना समाज और देश सुधार होना असम्भव है। व्यक्ति स्वयं सुधर कर दूसरे को सुधारने का प्रयत्न करे, केवल आचरणहीन निकम्मी थोथी भावनाओं से कुछ होने का नहीं। मौलिक प्रचार यही है। इसको जबतक अपने जीवन में समाहित नहीं किया जायगा तबतक उस प्रचार में कोई स्फूर्ति या शक्ति नहीं आयेगी।

जीवन सुधार का प्रतीक—अणुव्रत आन्दोलन

जीवन सुधारने का सबसे बड़ा सूत्र है—इस प्रकार का चिन्तन करना कि [illegible]। वह कौनसी प्रक्रिया है जिससे कि मैं दुर्गतिमें न जाऊं, मेरा पतन न हो। इसी नैरन्तरिक खोज में व्यक्तिको अपनेआप वह प्रक्रिया मिलेगी जो कि जीवन के लिए श्रेय और प्रेय है। मेरे शब्दों में आज के युगमें वह प्रक्रिया है—अणुव्रत योजना। अणुव्रत योजना को अपनाकर व्यक्ति किसीका अनिष्ट किए बिना अपना महान विकास कर सकता है। यह योजना न तो कोई आजके युग की आर्थिक समस्याओंको सुलझाने की योजना है और न कोई वादों के विवाद सुलझानेकी योजना। यह तो व्यक्ति के अपने जीवन-सुधार की योजना है। इस योजना में प्रमुखतः अहिंसादि पांच अणुव्रतों को व्यावहारिक रूप देकर

उनके ८४ नियम बनाये गये है। जनता क्या चाहती है ? इस पहलू के दीर्घकालीन सूक्ष्म—चिन्तन का यह परिणाम है। इसे लोगो ने बड़ी पसन्द की है, स्तुति और प्रशसा के बड़े पुल बांधे है, किन्तु मैं केवल पसद और प्रशंसा से खुश नहीं हू और न मैं इनका भूखा हू। मैं तो खुश तभी होनेवाला हू जब इस जीवन-विकास की योजना को अपने जीवन मे समाहित कर चला जायेगा। इस योजना का सारा कार्यक्रम अत्यन्त विशाल और उदार दृष्टिकोणसे बनाया गया है। सप्रदाय, जाति, वर्ण, लिंग आदि की इसमें बू तक नहीं मिलेगी, लोग इसका सूक्ष्म-चिन्तन और मनन करें। अगर यह योजना आपके जीवन-विकास का हेतु बनी तो मैं अपने प्रयास को सफल समझूगा।

जीवनका साध्य—मानवता

आज वैज्ञानिक युग है। सब चीजों का असभाव्य विकास होरहा है। क्या हृदयका ? क्या दिमाग का ? क्या बुद्धि का ? और क्या सुख-सुविधाओं का ? कल ही अखबार में देखा—'न्यूयार्क मे एक ऐसे यन्त्र का अविष्कार कियागया है, जो बिजली की सहायता के बिना दो घंटे तक का वार्तालाप, प्रवचन तथा संगीत आदि रिकार्ड कर सकेगा' इस तरह आज आये दिन नये-नये विकास के सूत्र सामने आरहे हैं। ऐसी स्थिति मे क्या जीवन का विकास आवश्यक नहीं ? खाना, पीना, सोना, सिनेमा देखना आदि जीवन के साध्य नहीं। जीवन का साध्य

मानवता है। सबसे बड़ी भूल आज यही हो रही है कि लोग इस महान साम्य को भूल गये हैं। उनका दृष्टिकोण भ्रान्त बन गया है। यही कारण है आज व दुर्व्यसनों के दास बने हुए हैं। मजे की बात तो यह है कि लोग दुर्व्यसनों के गुलाम होते हुए भी इस गुलामी को समझते तक नहीं। इसको मिटाने का तरीका यही है कि लोग पहले इस गुलामी को समझें और तदन्तर अधिकारों की लिप्सा अन्याय दुराचार और शोषणको छोड़कर जीवन विकासके क्षेत्रमें आगे कदम बढ़ावें।

उपसंहार

अन्त में मैं आपसे यही कहूंगा कि आप बहीमु की दृष्टिकोण को त्यागकर अन्तमु की दृष्टिकोण बनाइये। अन्तमु की दृष्टिकोण का विकास आत्मानुशासन के द्वारा सपादित होता है। अतएव उठो और बढ़ाओ जैसे पूर्ण सर्वग्राही और सर्वव्यापक सिद्धान्त को ग्रहण कर अपने जीवन विकास में प्राणपण से जुट जाइये। यह कीमती अल्पकालिक और दुष्प्राप्य मानव-जीवन तभी सफल बनेगा जब आप आत्म-भय आत्म-नियन्त्रण आत्मानुशासन और संयम जैसे महत्वपूर्ण मानवीय आदर्शोंको अपनाकर अपने विकास सुधार, जागरण उन्नयन और निर्माणमें स्फूर्तिप्रद प्रेरणा ग्रहण करेंगे और दूसरोंके लिये ऐसा ही स्फूर्तिप्रद प्रेरणात्मक पथ-प्रदर्शन करेंगे।

ता २-८-५१

जोधपुर (राजस्थान)

नियम का अतिक्रम क्यों ?

समय का प्रवाह नियमित चलता है—यह सबने देखा है। प्रकृतिमे ऐसा नियम और प्रकृति-विजयी होनेका गर्व करनेवाला मनुष्य नियमका अतिक्रम कियेचले—क्या यह उसके लिये शोभा की बात है ? ऋषि-वाणीमे कहा है—"हाथका संयम करो, पैरका सयम करो, वाणीका सयम करो और इन्द्रियोंका संयम करो।" आखिर संयम क्यों ? थोडेमे इसका उत्तर यही कि यह दोष-निरोधक टीका है। रोग-निरोधक टीके लगाये जाते है इसलिये कि स्वस्थता बनी रहे किन्तु बुराई-निरोधक टीका लिये बिना स्वस्थता आयेगी कहाँसे और टीके भी कैसे—इसपर विचार कीजिये।

संयम से आत्मानुशासन पैदा होता है। आत्मानुशासन से स्वतन्त्रताका स्रोत निकलता है। स्वतन्त्रताका उत्सव मनाने वालों को उसका सही रूप समझना चाहिये।

अपनेपर अपना नियन्त्रण न होसके तब कैसी स्वतन्त्रता ? स्ववशतामे सुख है और परवशतामे दुःख—यह सत्य या तो सत्य नहीं या इसका सही रूप पकडा नहीं जारहा है। कहीं अवश्य भूल है, नहीं तो स्वतन्त्र होनेके बाद इतना आर्त्तस्वर क्यों सुनने को मिलता है ?

मैं समझता हूं—मूल सिद्धान्त में नहीं भूल उसको पकड़ने में होरही है। स्वतन्त्रता अपना निजी गुण है। अन्याय के सामने झुकनेवाले विदेशी सत्ता में भी स्वतन्त्र रह सकते हैं और अन्याय के प्रवाहक स्वदेशी सत्तामें भी स्वतन्त्र नहीं बनते। विदेशी सत्ता चलीगई। यही अगर स्वतन्त्रता होती तो आज सब सुखी होते। बाहरी पदार्थों की यथेष्ठ पूर्ति न होनेपर भी दुःखी नहीं बनते।

विदेशी सत्ता हटनेपर जो आत्मानुशासन आना चाहिये था वह आया नहीं इसलिये सच्ची स्वतन्त्रता नहीं आई। राजनैतिक स्वतन्त्रता का सातवां उत्सव मनाया जारहा है। आर्थिक-स्वतन्त्रता के लिये अनेकों योजनायें चलरही हैं किन्तु अपनी स्वतन्त्रता के लिये अन्याय और बुराइयों के विरुद्ध लड़ने के लिए, कठिनाइयों और परिस्थितियों को सहने के लिए जो स्वतन्त्रता होनी चाहिये उसका बहुमुखी प्रयत्न नहीं चल रहे हैं। सही अर्थमें स्वतन्त्र बनना है तो मैं कहूंगा कि आजके दिन प्रत्येक भारतीय अणुव्रती आदर्शों पर चलने की प्रतिज्ञा ले।

भारत की भूमि त्याग और तप की भूमि है। इसका सांस्कृतिक और आध्यात्मिक गौरव जो निष्प्राण सा लगरहा है फिर आज भारतकी सततिसे त्याग और तपकी शक्ति चाह रहा है। मैं विश्वास करूँ कि त्याग जीवन का सिद्धान्तलोकम करेंगे।

[१५ अगस्त ५३ स्वतन्त्रता दिवस
के अवसर पर]

मानव-कल्याण और शिक्षक-समाज

ससार का प्रत्येक प्राणी सुखी बनने को लालायित है। मुक्ति का चाहे आकर्षण हो या न हो किन्तु सुख का आकर्षण अवश्य है। मेरे खयाल से परम सुख पाना यानी जहा दु ख का अंश भी न हो, उसीका नाम कल्याण है। हमे यहापर कल्याण की विवेचना नहीं करनी है, विवेचना तो करनी है कल्याणके साधनों की। साधनों के बिना सिद्धि की बात अधूरी है। यहाँ मै यह भी स्पष्ट करदूं कि जो लोग अच्छे साध्यके लिए अशुद्ध साधनों का प्रयोग करते हैं उनसे मेरा अभिमत बिल्कुल भिन्न है। मैं मानता हू, अच्छे साध्य के लिए साधन भी अच्छे होने चाहिएँ। अच्छे साधन होनेपर ही सिद्धि सुन्दर, व्यापक और स्थायी होगी। अत कल्याणके साधनोंकी ओर ध्यान देने की अत्यन्त आवश्यकता है।

कल्याण के तीन सूत्र

कल्याण के साधन क्या हैं, इस विषयमे हम अपना दिमाग न लगाकर अपने पूर्वज ऋषि-महर्षियो की वाणी को याद करें। उन्होंने अपनी महान् साधना के द्वारा मन्थन कर जो सार

पदार्थ निकाले हैं हमें उनका उपयोग करना चाहिए। उनकी अनुसंधानपूर्ण सम्पत्ति अनुपयोगी नहीं है। उन्होंने कल्याण के साधनों की विवेचना करतेहुए तीन प्रकार की आराधनायें बतलाई हैं— तिविहा आराहणा पन्नत्ता नाणाराहणा दसणाराहणा चरित्ताराहणा यह प्राकृत भाषा है। जिसमें इसका मतलब यही है कि ज्ञान दर्शन और चरित्र इन तीन रत्नों की आराधना से कल्याण की अभिसिद्धि होती है।

कल्याण कैसे होगा

कल्याणका पहला साधन है, ज्ञान। भगवद्गीतामें कहा है—

नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।

पवित्र से पवित्र और उत्तम से उत्तम ज्ञान के समान संसार में दूसरा कोईभी पदार्थ नहीं है। ज्ञान क्या है? साक्षरता को ही मैं सिर्फ ज्ञान नहीं मानता वह तो ज्ञान का साधनमात्र है। ज्ञान तो वह है जिससे गुण-दोष की परख आती है, हेय उपादेय की भावना जागृत होती है हिताहित का बोध होता है। इसके लिए आज की शिक्षा-प्रणाली अधूरी है। उसमें त्याग, चरित्र और आत्म विकास जैसे मूलभूत तत्वों को स्थान नहीं दियागया है। मुझे यह कहतेहुए खेद होता है कि जो ज्ञान आत्म विकास का उत्कृष्ट साधन था आजकल उसे तुच्छ आजीविका का साधन बनादियागया है। आजीविका—पेट पालन तो एक अज्ञानी-अशिक्षित भी कर सकता है। आजीविका

केलिए ज्ञान की उद्दिष्टता नहीं, उसकी आवश्यकता तो आत्म-विकास और चरित्र विकास के लिए है।

ज्ञान और विज्ञान

ज्ञान और विज्ञान में कोई बडा अन्तर नहीं। विज्ञान ज्ञान से परे नहीं है। विशिष्ट ज्ञान यानी अन्वेषण व खोजपूर्ण जो प्रायोगिक ज्ञान होता है, वही विज्ञान है। आज विज्ञान का सर्वत्र बोलबाला है। यद्यपि विज्ञान बुरा नहीं है, किन्तु उसका दुरुपयोग बुरा है। यह विचारणीय है कि उसका उपयोग कैसा होना चाहिए? आज उसका उपयोग विध्वंस के लिए किया जाता है तो यह कतई असह्य है।

स्वर्णिम इतिहास

ज्ञान के विषय में भारत का पिछला इतिहास स्वर्णिम रहा है। ज्ञान की विशेषता के द्वारा वह अन्य सब देशोका गुरु माना जाता था। उस समय ज्ञान की कुंजी यहा के ऋषि-महर्षियो के हाथ में सुरक्षित रहती थी। वे बिना परीक्षा किये किसी को ज्ञान नहीं देते थे। जिसको वे ज्ञान का अधिकारी या योग्य समझते थे उसीको देते थे। इस विषयमें जैन इतिहास में वर्णित एक किस्सा बडा ही सुन्दर है। आचार्य भद्रबाहु के समय की बात है। उनके शिष्य स्थूलिभद्र उनके पास ज्ञानार्जन कररहे थे उन्होंने क्रमश १० पूर्वो का ज्ञान प्राप्त करलिया। एकदिन वे चमत्कार दिखाने की भावना से नियम निषिद्ध ज्ञान का प्रयोग

पदार्थ निकाले हैं इन्हें उनका उपयोग करना चाहिए। इनकी अनुसंधानपूर्ण सम्पत्ति अनुपयोगी नहीं है। उन्होंने कल्याण के साधनों की विवेचना करतेहुए तीन प्रकार की आराधनायें बतलाई हैं— तिविहा आराहणा पन्नत्ता नाणाराहणा दंसणाराहणा चरित्ताराहणा यह प्राकृत भाषा है। आइम इसका मतलब यही है कि ज्ञान दर्शन और चरित्र इन तीन रत्नों की आराधना से कल्याण की अभिसिद्धि होती है।

कल्याण कैसे होगा

कल्याणका पहला साधन है, ज्ञान। भगवद्गीतामें कहा है—

नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।

पवित्र से पवित्र और उत्तम से उत्तम ज्ञान के समान संसार में दूसरा कोईभी पदार्थ नहीं है। ज्ञान क्या है? साक्षरता को ही मैं सिर्फ ज्ञान नहीं मानता वह तो ज्ञान का साधनमात्र है। ज्ञान तो वह है जिससे गुण-दोष की परख आती है एवं उपादेय की भावना जागृत होती है हिताहित का बोध होता है। इसके लिए आज की शिक्षा-प्रणाली अधूरी है। उसमें त्याग चरित्र और आत्म विकास जैसे मूलभूत तत्त्वों का स्थान नहीं दियागया है। मुझे यह कहतेहुए खेद होता है कि जो ज्ञान आत्म विकास का अन्यतम साधन था आजकल उसे तुच्छ आजीविका का साधन बनादियागया है। आजीविका—पेट पालन तो एक अज्ञानी-अशिक्षित भी कर सकता है। आजीविका

केलिए ज्ञान की उद्दिष्टता नहीं, उसकी आवश्यकता तो आत्म-विकास और चरित्र विकास के लिए है।

ज्ञान और विज्ञान

ज्ञान और विज्ञान में कोई बड़ा अन्तर नहीं। विज्ञान ज्ञान से परे नहीं है। विशिष्ट ज्ञान यानी अन्वेषण व खोजपूर्ण जो प्रायोगिक ज्ञान होता है, वही विज्ञान है। आज विज्ञान का सर्वत्र बोलबाला है। यद्यपि विज्ञान बुरा नहीं है, किन्तु उसका दुरुपयोग बुरा है। यह विचारणीय है कि उसका उपयोग कैसा होना चाहिए? आज उसका उपयोग विध्वस के लिए किया जाता है तो यह कतई असह्य है।

स्वर्णिम इतिहास

ज्ञान के विषय में भारत का पिछला इतिहास स्वर्णिम रहा है। ज्ञान की विशेषता के द्वारा वह अन्य सब देशोंका गुरु माना जाता था। उस समय ज्ञान की कुञ्जी यहां के ऋषि-महर्षियों के हाथ में सुरक्षित रहती थी। वे बिना परीक्षा किये किसी को ज्ञान नहीं देते थे। जिसको वे ज्ञान का अधिकारी या योग्य समझते थे उसीको देते थे। इस विषयमें जैन इतिहास में वर्णित एक किस्सा बड़ा ही सुन्दर है। आचार्य भद्रबाहु के समय की बात है। उनके शिष्य स्थूलिभद्र उनके पास ज्ञानार्जन कररहे थे उन्होंने क्रमश १० पूर्वो का ज्ञान प्राप्त करलिया। एकदिन वे चमत्कार दिखाने की भावना से नियम निषिद्ध ज्ञान का प्रयोग

कर बैठे। आचार्य भद्रबाहु को पता चलते ही उन्होंने तुरन्त आगे पढ़ाना स्थगित कर दिया। मुनि स्थूलिभद्र ने अपना अपराध स्वीकार करते हुए पुनः आगे पढ़ाने के लिए विनम्र प्रार्थना की। आचार्य भद्रबाहु ने उन्हें अयोग्य पात्र बतला कर आगे पढ़ाने से इन्कार कर दिया। यह दूसरी बात है आगे उन्होंने सारे संघकी प्रार्थना पर शब्द मात्र को कुछ पढ़ाया। इस ऐतिहासिक किस्सेसे यही साबित होता है कि हमारे ज्ञानके केन्द्र पूर्वज ऋषि-महर्षि योग्य पात्र को ही ज्ञान देते थे। उस समय एक दूसरी विशेषता यह भी थी कि ज्ञान का कोई विक्रय नहीं होता था। सरकारी व सामाजिक ऐसी परम्परायें थीं जिससे पढ़ानेवाले को अपनी आजीविकाकी कोई चिन्ता नहीं होती थी। आज ज्ञानका खुले आम विक्रय होरहा है। मैं मानता हूं — इसके कई कारण हैं, मैं उनसे अपरिचित नहीं हूं किन्तु इससे यह प्रवृत्ति उचित तो नहीं मानी जा सकती।

ज्ञान का प्रयोग

ज्ञान का प्रयोग आज सही रूप में नहीं होरहा है। शास्त्रों में कहा है—

कि ताए पढियाए पय कोडिवी पलालभूयाए।

जह इत्ति वि न याण परस्स पीडा न कायव्वा॥

"कोटि कोटि पदों का वह ज्ञान निस्सार है जिससे कि इतना ही नहीं पहचाना जा सकता कि औरों को पीड़ा नहीं पहुंचानी

चाहिए। इसलिए वही ज्ञान, ज्ञान है जिससे जीवन विकसित, शुद्ध और उन्नत होता है। जिस ज्ञान से यह नहीं होता वह ज्ञान, ज्ञान नहीं, अज्ञान है। इसलिए ज्ञान का प्रयोग आत्म-निर्माण और आत्म-विकास के लिए होना चाहिए।

दर्शन-त्रिवेणी

आजके युग में दार्शनिक ज्ञान होना भी अत्यन्त आवश्यक है। ससार मे आज पौर्वात्य दर्शन और पाश्चात्य दर्शन, ये दो धारायें विद्यमान हैं। आज जितना पौर्वात्य दर्शन का प्रचार नहीं उतना पाश्चात्य दर्शन का होरहा है। लोग पाश्चात्य दर्शन के सामने भारतीय दर्शन को कम मानने लगगये हैं। यह अनुचित हुआ है। पौर्वात्य दर्शन का केन्द्र प्रारम्भ से ही भारत रहा है और आजभी वही है। यहा प्रमुखत वैदिक, बौद्ध और जैन ये तीन दर्शन मुख्य रहे हैं। बौद्ध दर्शन तो भारत से लुप्त प्राय होगया था किन्तु आजकल उसका पुन उन्नयन हो रहा है। वैदिक दर्शन यहा रहा और आजभी विद्यमान है। जैन दर्शन अपनी लडखडाती अवस्था मे भी अपनी विशेषताओं के कारण यहा टिका रहा और आजभी वह अपनी प्राचीन विशुद्ध विचार-धारा को लिए चलरहा है।

जैन-दर्शन

आज मैं इन तीनों दर्शनो मे से जैन-दर्शन पर ही कुछ प्रकाश डालना चाहता हू। इसका मतलब यह है कि सभवत

जनदर्शन के विषय में आपकी जानकारी कम है। वह आजकल की भाषा में उपलब्ध नहीं है। एक कारण यह भी है कि इसके विषय में लोगों की रुचि भी कम है। न जाने किस महामना ने 'हस्तिना ताड्यमानोऽपि न गच्छेज्जैनमन्दिरम्' इस प्रकार के अरुचिकर पद्य रचे। वे पद्य जैनदर्शन के प्रति लोगोंकी अरुचि को भड़काते रहे। लोग दूर रहे। जैन दर्शन की अमूल्यसम्पत्ति से वे सर्वथा अपरिचित रहे। आज लोगोंमें अवश्य जैन-दर्शन के प्रति जिज्ञासा है। पश्चिमी भाषाओं में जैन दर्शनकी अनेक टीकायें प्रकाशित हुई। आज के वैज्ञानिक भी जैन-दर्शन का तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करते हैं। इसमें एक नई सूझ और नई जागृति पाते हैं।

जैन-दर्शन क्या है? जैन-दर्शन एक आध्यात्मिक दर्शन है। दूसरे शब्दों में वह निवृत्तिप्रधान दर्शन है। 'जिन' से जैन शब्द बनता है। उसका मतलब है आत्म विजेता वीतराग। 'जयतीति जिनः'—जो आत्मविजयी है वह जिन है। जिनो देवता यस्य स जैनः —जिन जिनके उपास्य देव हैं जो जिनके प्रवचनोंके अनुसार चलते हैं वे जैन हैं। जैनधर्म वीतरागोंका धर्म है। वीतराग उसके प्रवर्तक हैं। उन्होंने प्रवचनों में जिन अमूल्य रत्नों की पूंजी हमें दी है वह संसार में सदा अमर रहेगी।

अनेकान्त दृष्टि

जैन-दर्शन में मुख्यतः विचार और आचार इन पहलुओं पर बल दिया गया है। जहां विचारात्मक पहलूका प्रसंग आता है

वहा जैन दार्शनिकों ने अनेकान्त दृष्टि का तत्त्व दिया है। अनेकान्त दृष्टि एक जीवित दृष्टि है। अनेकान्त दृष्टि सब प्रकार के विरोधो की गुत्थिया सुलझानेवाली दृष्टि है। उसका कहना है कि किसी पदार्थ को एकान्त दृष्टि से मत देखो। एकान्त दृष्टि आग्रह की जननी है। आग्रही व्यक्ति तत्त्व को समग्ररूपसे समझ नहीं सकता। इसलिए किसी तत्त्व को समझने के लिए अनेक दृष्टियों का प्रयोग करो। एक वस्तु के अनेक पहलू हो सकते हैं। उदाहरणत --एक मझले पुत्र को कोई पूछे--'तुम' छोटे होया बड़े ? वह क्या कहे ? असमजस मे पड़जाता है। छोटा कैसे कहे, जब कि बड़ा भाई भी विद्यमान है। यकायक उसे एक रास्ता दिखाई दिया और उसने चट से कह दिया--'मैं छोटा भी हूं और बड़ा भी।' पूछनेवाला इस नई सूझ से चकित हुए विना नहीं रहेगा। एकाङ्गी दृष्टि से काम नहीं चल सकता। अपेक्षा दृष्टि ही व्यक्ति को सही रास्ता दिखला सकती है। यह सिद्धान्त संसारवर्ती छोटे-बड़े सभी तत्त्वों पर लागू होता है। प्रश्न उठते हैं--ससार सादि-सान्त है या अनादि-अनन्त ? इसपर कोई दर्शन सादि-सान्त कहेगा और कोई अनादि-अनन्त। किन्तु जैन-दर्शन अनेकान्त दृष्टि की महान् सूझ के कारण ससार को सादि-सान्त और अनादि-अनन्त दोनों बतायेगा। क्योंकि अपेक्षावाद के अनुसार जगत् न तो नित्य है और न अनित्य, किन्तु नित्यानित्य है। चूकि ससार का चक्र सदा चलता रहता है उसके पदार्थत्व की अपेक्षा वह अनादि अनन्त है और उसकी

अवस्थाओं में प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। अतएव वह सादि-सान्त है। इस प्रकार यह नियम सब तत्त्वों पर लागू होता है। अनाग्रह बुद्धि से खोजने पर ही वस्तु-तत्त्व मिलता है। आचार्यों ने कहा है—

एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण।

अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी॥

गोपी दही से मक्खन निकालती है। मन्थन करते समय उसका एक हाथ आगे और एक हाथ पीछे रहता है। वह सोचे हाथों को आगे पीछे करने से क्या है? आगे पीछे नहीं करूंगी, एक ही मक्खन निकाल लूंगी। क्या वह इस प्रकार अपने दोनों हाथों को एक साथ कर मक्खन निकाल सकती है? उत्तर होगा नहीं। यही नियम तत्त्वों पर लागू होता है। तत्त्वों का सार हम तभी निकाल सकेंगे जबकि हम एक ही तत्त्व का भिन्न भिन्न दृष्टियोंसे परीक्षण कर सकेंगे। इस विषयको समझनेके लिए अनेक दार्शनिक ग्रन्थ उपलब्ध है उनका गम्भीर अध्ययन अपेक्षा दृष्टि को स्याद्वाद को समझने में अत्यन्त उपयोगी और आवश्यक है।

सन्दिग्धवाद नहीं

मैं यहांपर यहभी बतादूं कि स्याद्वाद सन्दिग्धवाद या संशयवाद नहीं है। अनेक जैनेतर विद्वानोंने इसको सही रूपमें न समझने के कारण बड़ा अनर्थ किया है। स्यात् का मतलब

कथंचित् यानी किसी दृष्टि से है। उसका सन्देह या संशय अर्थ करना तत्त्व का गला घोंटने के समान है।

समन्वय का प्रतीक

स्याद्वाद की महान् शक्ति के द्वारा संसारभर के सारे झगड़ों को समाप्त कर सही रूप मे समन्वय स्थापित किया जा सकता है। स्याद्वाद समन्वय का सही पथ-प्रदर्शक है। उदाहरणत — एक ब्रह्म द्वितीय नास्ति, इसका जैन-दर्शन के साथ अच्छी तरह से समन्वय यानी जाति की अपेक्षा सब मनुष्यो मे एकही स्वरूपवाली आत्मा विद्यमान है। इस दृष्टिसे जातिकी अपेक्षा को लेतेहुए ससार को एकात्मक ग्रहण किया जा सकता है। जैसे हम कहते हैं—'अमुक देश का किसान बड़ा सुखी है।' यहा किसान शब्द जातिवाचक है। अत किसी एक व्यक्ति विशेष का ग्रहण न होकर इस शब्द से उस देश के सारे किसानों का ही ग्रहण होजाता है। इसके विपरीत जहां व्यक्तिवादी दृष्टि का सवाल आता है, वहा व्यक्तिश प्रत्येक मनुष्य भिन्न-भिन्न होने के कारण सब अलग-अलग हैं और तब उस अवस्था मे व्यक्ति की अपेक्षा ससार को अनेकान्तात्मक भी ग्रहण किया जा सकता है। इस प्रकार अन्यान्य विषयों मे भी अनेकान्त दृष्टिका प्रयोग कर, हम समन्वयकी गतिको बहुत आगे बढा सकते हैं।

अहिंसा दृष्टि

जहा आचारात्मक पहलू का प्रसग आता है, वहाँ जैन दार्शनिकों ने अहिंसा की दृष्टि दी है। मैंने पहले ही कहा है—

आधार यानी अहिंसा के अभाव में कोटि पर्वों का ह्रास होने परभी जीवन शून्य और बेकार है। अहिंसा की दृष्टि भगवान् महावीर ने दी है। ऐसे औरों ने भी अहिंसा का प्रतिपादन किया है किन्तु वे अहिंसा की उतनी गहरी तहमें नहीं घुसे जितने कि भगवान् महावीर घुसे। अहिंसा से मनुष्य कायर बनते हैं भीरु बनते हैं अहिंसाने वीरत्व का सर्वनाश करडाला यह निरा भ्रम है। अहिंसा वीर पुरुषों का धम है। अहिंसा वीरत्व की जननी है। कायर पुरुष को अहिंसा के द्वार खटखटाने तक का अधिकार नहीं है। अहिंसा-शस्त्र की सुरक्षा में बिना रक्तपात किये भारत जैसा विशाल देश स्वतन्त्र हो जाता है। फिरभी कोइ कह सकता है कि अहिंसा कायरता और भीरुताकी जननी है ?

अहिंसा क्या है ?

अहिंसा क्या है—मन वाणी और कम, इन तीनों को विशुद्ध व पवित्र रखना उनको कलुषित व अपवित्र न होने देना ही अहिंसा है। दोनोंमें जहां हिंसा नहीं वहां अहिंसा है। हिंसासे यह अभि प्राय नहीं कि केवल प्राण वियोजन करना किन्तु अपनी दुष्प्रवृत्ति पूर्वक प्राण वियोजन करनेसे है। जितनी बुरी कलुषित राग द्वेष और स्वार्थमयी प्रवृत्ति है वह हिंसा है। हिंसाका त्यागनेका और अहिंसा को अपनाने का मुख्य लक्ष्य आत्मकल्याण है। हिंसा करनेवाला किसी दूसरे का अहित नहीं करता बल्कि अपनी आत्मा का ही अहित करता है। भगवान् महावीर ने अहिंसा के दो विभाग बताये हैं—स्थूल और सूक्ष्म। बर्तन या मरणमारु

यूगान्तरेवा' के सिद्धान्त को अपनाकर जो मुमुक्षु चलनेवाले है उनके लिए मात्र हिंसा वर्जनीय है। इस चोटी की अहिंसा तक विरले ही पहुचपाते है। अत हिंसा को तीन विभागो मे विभक्त किया गया है--आरम्भजा, विरोधजा और संकल्पजा। व्यापार, कृषि आदि जीवन की आवश्यक क्रियाओं मे जो हिंसा होती है, वह आरम्भजा है। इसका त्याग सामाजिक प्राणी के लिए अति कठिन है। अपने समाज या राष्ट्र की रक्षा के लिए आक्रमणकारियोंके साथ लडाई की जाती है वह विरोधजा हिंसा कहलाती है। साधारण गृहस्थके लिए इसका परित्याग भी अत्यन्त दुष्कर है। तीसरी हिंसा है, सकल्पजा इसका मतलब है—निरपराध प्राणी पर इरादेपूर्वक आक्रमण करना। इसी हत्याके कारण बडे-बडे नृशंस हत्याकाड हुए हैं। जातिवाद और साम्प्रदायिकता जैसे सकुचित विचार इसी हिंसाके कारण पनपे हैं और पनपते है। सकल्पपूर्वक हिंसा करनेवाला मानव, मानव नहीं, पशु है, कम से कम इस तीसरी हिंसासे तो मानवमात्रको अवश्य ही बचना चाहिये। इसप्रकार जैन-दर्शन के आचार और विचार इन दो सारगर्भित सिद्धान्तों का जितना चिन्तन, मनन और अनुशीलन किया जाता है उतना ही अधिक आनन्द प्राप्त होता है। विचार और आचार के इतने विवेचनका मतलब यही है कि मनुष्य जहा विचार का निर्णय करना चाहे वहा स्याद्वाद—अनेकान्तवाद का अनुसरण करे और जहा आचार का निर्णय करना चाहे वहां अहिंसा का आश्रय ले।

मैं एकबात यहांपर और स्पष्ट करदूं कि अहिंसाका बलात्कार और प्रलोभन से कोई सम्बन्ध नहीं है। कुछ पैसे देकर या दंड के बलपर आकान्ता को दूर किया जासकता है किन्तु जबतक हृदय-परिवर्तन नहीं होता तबतक अहिंसा कैसे हो सकती है? यह दूसरी बात है कि सामाजिक प्राणियों द्वारा किसी को बचाने के लिये ये तरीके काम में लियेजाते हैं। किन्तु उनके काम में लियेजानेमात्र से वे अहिंसात्मक तरीके हो नहीं कहला सकते। वास्तव में शिक्षा और उपदेश के द्वारा ही हृदय परिवर्तन किया जासकता है और जहां हृदय परिवर्तन है, वहां अहिंसा है।

प्राणीमात्र का धर्म

जैनधर्म में जातिवाद को लेकर कोई समस्या नहीं है। धर्म की व्याख्या ही उसने यही की है—

व्यक्ति-व्यक्ति में धर्म समाया जाति पाति का भेद मिटाया।
निर्धन धनिक न अन्तर पाया जिसने धारा जन्म सुधारा॥

धर्म व्यक्तिनिष्ठ है समष्टिगत नहीं। धर्मपर किसी जाति समाज या राष्ट्र का अधिकार नहीं। वह सबका है। वह उसीका है जो उसकी आराधना करे। धर्म की मर्यादा में जाति रंग देश आदिका कोई भी भेदभाव नहीं हो सकता। मुझे खुशी होती है जब मैं ऐसा विचार करता हूं कि मैं धर्म को हर व्यक्ति, हर जाति और हर देश में फैलाऊं। जैनलोग यह न समझलें कि जैनधर्म तो उनका ही है। जैनधर्म वीतरागों का धर्म है। उसका

किसी एक जातिविशेष से सम्बन्ध हो नहीं सकता। वह प्राणीमात्रका है और प्राणीमात्र उसका अधिकारी है।

नकारात्मक दृष्टिकोण

जैनधर्म की एक और विशेषता है। वह है नकारात्मक दृष्टिकोण। यद्यपि जैन-दार्शनिकों ने विधानात्मक दृष्टिकोण को भी अपनाया है किन्तु अधिक बल नकारात्मक दृष्टिकोण पर दियागया है। इसमें रहस्य है। जितना नकारात्मक दृष्टिकोण व्यापक है, उतना विधानात्मक नहीं। जैसे-'मत मारो' यह सर्वथा निर्दोष, सफल और व्यापक है। 'बचाओ' यह अपने-आप मे सदिग्ध है। 'बचाओ' कहते ही प्रश्न होगा-किस को और कैसे बचाया जाय ? डरा-धमकाकर किसी को बचाने मे पारस्परिक सघर्ष होना सभावित है। ऐसी अवस्था में 'बचाओ' दोषमुक्त और सफल नहीं कहा जासकता। सयुक्त-राष्ट्र, कोरिया को बचाने के लिये कोरिया मे प्रविष्ट हुआ, उसका भयंकर परिणाम सबके सामने है। इसीप्रकार 'झूठ मत बोलो' इसमें कोई बाधा नहीं आती किन्तु 'सत्य बोलो' इसमे बाधा आती है। कहा भी है—'सत्य ब्रूयात्, प्रिय ब्रूयात्, मा ब्रूयात सत्यमप्रियम्" सत्य बोलो किन्तु वैसा सत्य नहीं जो अहितकर हो। एक शिकारी के पूछनेपर उसको मृग जाने का मार्ग बताना सत्य होतेहुये भी अहितकर और विनाशकर है। इसलिये नकारात्मक दृष्टिकोण जितना सफल हो सकता है, उतना विधानात्मक नहीं। यह समझना गलत होगा कि जैनधर्म

में विधानात्मक दृष्टिकोण को स्थान ही नहीं है। जैनधर्म में विधानात्मक दृष्टिकोणपर भी बल दियागया है। जैसे—मैत्री करो मधुता रखो आदि।

आत्म-विश्वास

आराधनाका दूसरा भेद बतलाया गया है—दर्शन-आराधना जिसे हम दूसरे शब्दों में श्रद्धा भी कह सकते हैं। श्रद्धा का मतलब है सत्य विश्वास, आत्म-विश्वास। आत्म विश्वास की आज कमी होरही है। यह क्यों? आत्म विश्वास के अभाव में क्या मानव आगे बढ़ सकता है और सफलता पा सकता है? आत्म-विश्वास का होना अत्यावश्यक है।

चरित्र विकास

तीसरा भेद बताया है—चरित्र-आराधना। चरित्रका सबसे अधिक महत्त्व है। आज जगह-जगह चरित्र-सुधार की बड़ी बड़ी बातें होती हैं। हँसी आती है जब चरित्रहीन व्यक्ति भी चरित्र का उपदेश देने लगते हैं। उन्हें सबसे पहले अपने जीवन को सुधारना चाहिये। अपनेआपको उठाना चाहिये। जब मैं लोगों को अपने सुधार को ताकपर रखकर औरों को सुधारने की बातें करते सुनता हूं तो मेरे आगे महाराज श्रेणिक और महामुनि अनाथी का किस्सा नाचने लगता है। उद्यान में मगधसम्राट् महाराज बिम्बसार की मुनि अनाथी के दिव्य स्वरूपपर दृष्टि पड़ते ही वे उनकी ओर मौह-चुम्बक की तरह आकर्षित हो उठे। उन्होंने मुनिराज के निकट आकर कहा—

"मुनि! मैं जानना चाहता हूँ आपने इस भरी जवानी में दीक्षा क्यों ग्रहण की? मुनिराज ने गम्भीरतापूर्वक उत्तर दिया- 'राजन! मैं अनाथ था। इसलिये मैंने दीक्षा ग्रहण की है। महाराज के खुशी का कोई पार नहीं रहा। उन्होंने तपाक से कहा—'अच्छा यह बात है तो आप मेरे साथ चलिये। मैं आपका नाथ बनता हूँ। मेरे राज्य में किसीभी बात की कमी नहीं है। आपको सभी प्रकार की सुख-सुविधायें प्राप्त होंगी।' मुनि मुस्कराये। उन्होंने सस्मित कहा—'राजन! तुम स्वयं अनाथ हो तुम दूसरों के क्या नाथ बनोगे?' महाराज की सारी खुशी उड़गई। उन्होंने कठोरतापूर्वक कहा—'मुनिवर आप सत्यभाषी हैं, आपको असत्य नहीं बोलना चाहिये। आप जानते नहीं, मैं एक प्रभूत-ऐश्वर्य-सम्पन्न साम्राज्य का नाथ हूँ, मुझे अनाथ बताते आपको असत्य का दोष नहीं लगता?' मुनिराज ने इस आक्षेप का उत्तर देतेहुये कहा 'राजन! आप अनाथ और सनाथका भेद नहीं जानते इसीलिये आप मेरे कथन को मिथ्या समझ रहे हैं।' यह कहकर मुनिराजने राजा श्रेणिक के अन्तर नेत्रों पर चोट करते हुये कहा—'राजन्! आपको मालूम नहीं, आपके भीतर काम, मद, लोभादि कितने दुर्धर्ष और दुर्जय शत्रु छिपे बैठे हैं। आप उनको देखतेतक नहीं? असली शत्रु तो वे ही हैं। इन्हें पराजित नहीं कर सकता वह नाथ कैसा? वह तो स्वयं ही अनाथ है।' महाराज श्रेणिक मुनिराज के चरणों में नत-मस्तक होगये। उन्होंने सहर्ष स्वीकार

किया 'महाप्रभु! मैं अनाथ हूं, लाखों-करोड़ों मनुष्यों का नाथ होतेहुये भी मैं वास्तव में अनाथ ही हूं।' यही बात आज अधिकांश लोगों के है। चरित्र-हीनों के मुंह से चरित्र की बात शोभा नहीं देती।

सुधार का केन्द्र—अणुव्रती संघ

जिस देश का संदेश विश्व भर में गूंजता था जिसके लिये यहांतक कहागया था कि 'एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः संसारभर के लोग यहांपर पैदा हुये आर्योंसे चरित्रकी शिक्षा ग्रहण करें। खेद! आज उसी देश को चरित्र की शिक्षा देने के लिये बाहर से 'डेलीगेटस' आते हैं। चरित्र के उत्थान के लिये इधर में कई अहिंसात्मक क्रान्तियां हुई। अणुव्रती संघ भी इसी ओर संकेत करता है। उसमें एकमात्र चरित्र की शिक्षा है। जीवन को कैसे उठाया जावे इसकी सूची है। मूल अणुव्रत पांच हैं और उनका ही विस्तार कर ८४ नियम बनाये गये हैं। व्यापारियों के लिये एक नियम है—वे चोरबाजारी न करें। राज्य कर्मचारियों के लिये और शिक्षकों के लिये *नियम है कि वे रिश्वत न लें।* इसी प्रकार चिकित्सकों के लिये भी नियम है कि वे पैसा कमाने की दृष्टि से रोगी की चिकित्सा में अनुचित समय न लगायें। ये नियम किसके लिये आवश्यक नहीं हैं? धार्मिकता वाले छोड़िये *कम से कम मानवता और नागरिकता के नाते ही* आप इन्हें अपनाइये। इससे आपका आपके समाज का और आपके

देश का भला होगा। उपस्थित शिक्षक लोगों से तो मै जोर देकर कहूगा, आप अणुव्रती संघ के नियमो को अपने जीवन मे उतारें। आपके ऐसे करने से दो बातों का लाभ होगा। एकतो आपका अपना सुधार और दूसरे आपके संपर्क मे आनेवाले छात्र-छात्राओं का सुधार। जबतक आप अपने सुधार को मुख्य रूप नहीं देंगे तबतक आपकी सुधारभरी शिक्षाओं का छात्र-छात्राओं पर कोई असर नहीं पडेगा। इसलिये पहला सुधार, अपना सुधार यानी व्यक्ति सुधार। समाज और राष्ट्र व्यक्तियोसे ही तो बनते है, तब व्यक्ति सुधार होने से समाज और राष्ट्र का सुधार तो अपनेआप हो जायेगा। व्यक्ति-सुधार ही सब सुधारों का केन्द्र है।

उपसहार

अन्त मे मैं इन्हीं शब्दो के साथ आज का वक्तव्य समाप्त करता हू कि यदि आप व्यक्ति सुधार के दृष्टिकोण को अपनाकर जीवन में कल्याण और जागृति का पावन-पुनीत प्रकाश फैलाने-वाली ज्ञान, दर्शन और चरित्रात्मक त्रिवेणी की आराधना करेंगे तो नि सदेह शिक्षक-समाज वास्तव में शिक्षक समाज बनकर, अपने हाथों में आईहुई देश की महान् एव मूल्यवान् सपत्ति को सुरक्षित रखते हुए, उसको अधिक से अधिक विकसित कर अपना और दूसरों का सही अर्थ मे भला कर सकेंगे।

[ता० २८ ८ ५३ को मारवाड टीचस यूनियन जोधपुर की ओर से आयोजित शिक्षक सम्मेलनके अवसर पर]

जीवन-विकास और विद्यार्थीगण

विद्यार्थी, समाज और देश के भावी कर्णधार हैं। आज मैं उनके बीच अपना धार्मिक-सन्देश देरहा हूं। बुजुर्गों-बूढ़ों से इतनी आशा नहीं जितनी आपसे है। आप आशा के केन्द्र बिन्दु हैं। मुझे आपके बीचमें अपना सन्देश देते, हार्दिक प्रसन्नता होरही है।

विकास का मुख्य साधन—ज्ञान

आप जानते हैं, यह विद्यालय है। विद्यालय का मतलब उस स्थान से है जहां ज्ञानार्जन होता हो। ज्ञान का जीवन में सर्व प्रमुख स्थान है। शास्त्रों में बताया है —

पढमं नाणं तओदया एवं चिट्ठइ सव्व संजए।

अन्नाणी किं काही किंवा नाहिइ सेय पावगं॥

जीवन विकासका सर्वप्रमुख साधन ज्ञान है और फिर क्रिया। इसी कल्याण क्रम पर समस्त साधकवर्ग ठहराहुआ है। जो

अज्ञानी होगा, वह क्या समझेगा, क्या श्रेय होता है और क्या प्रेय ? क्या विकास होता है और क्या पतन ? इसलिए जीवन को विकसित करने के लिए ज्ञान की सबसे अधिक आवश्यकता है। ज्ञान ही जीवन है, ज्ञान ही सार है, ज्ञान ही तत्त्व है और ज्ञान ही आत्म-निर्माण तथा आत्म-विकास का मुख्य साधन है।

प्रस्तुत शिक्षा-प्रणाली

मुझे कहने दीजिये, आजकल जो ज्ञान स्कूलों, कालेजों और विश्वविद्यालयो मे दिया जारहा है, जो शिक्षा-पद्धति प्रस्तुत है, मुझे क्या, आज के बडे-बडे नेताओ और विशिष्ट विचारकों को भी उससे सन्तोष नहीं है। आम लोगों की आज यही आवाज है कि हमारी शिक्षा-पद्धति सर्वांग सुन्दर नहीं है। जिससे सस्कार शुद्ध, सुन्दर और परिष्कृत न बने, जीवन संस्कारित न हो, उस शिक्षा-प्रणाली को सर्वांग सुन्दर कहाभी कैसे जासकता है ? जबतक सस्कारों को शुद्ध, सुन्दर और परिष्कृत बनाने का शिक्षा पद्धति मे कोई प्रयास नहीं किया जायेगा, तबतक देश की सर्वांगीण उन्नति होनी असभव है। इसके साथ-साथ आजकल के ज्ञानार्जन का तरीका भी सुन्दर नहीं है। यह सब आज की अधूरी शिक्षा-प्रणाली का ही दोष है। प्रणालीगत दोष किसी एक सस्थाविशेष का नहीं, वह तो समस्त देशव्यापक सस्थाओं का ही है। किसी एक स्थान विशेष से इस दोष को दूर करना संभव नहीं। समस्त शिक्षा-प्रणाली का आमूलचूल परिवर्तन करने से ही इस दोष को दूर किया जासकता है।

अनाकर्षण क्यों ?

ज्ञान जीवन की मूलभूत पूंजी है। उसके अभाव में मनुष्य अपनेआपको खो बैठता है। आजकल मौतिक ज्ञान जरूर अभिमत है विद्यार्थी के साथ उसका अर्जन कियाजाता है किन्तु मौलिक अध्यात्मनिष्ठ ज्ञान की ओर कोई आकर्षण नहीं। यह सोचनातक हुए नहीं कि मैं कौन हूं ? कहां से आया हूं ? कहां जाऊंगा ? मैं बौद्ध धर्मकी मान्यतानुसार अस्थायी—क्षणिक हूं या वैदिकधर्म की मान्यतानुसार—अच्छेद्य अभेद्य अक्लेद्य सनातन-स्वरूपवाला स्थायी ? मरने के बाद भी जिन्दा रहूंगा या नहीं ? आज इन जीवन विकासी शिक्षाओंका सर्वथा अभाव सा अनुभव होरहा है। जबतक इसप्रकार की मौलिक शिक्षा नहीं दी जायगी तबतक जीवनका संस्कारित होना बहुत मुश्किल है। इसके साथ-साथ यह भी सही है कि जबतक जीवन संस्कारित नहीं होगा तबतक ज्ञानार्जनका प्रयास भी सफल नहीं हो सकेगा।

भ्रामक उद्देश्य

आज ज्ञान का उद्देश्य गलत होरहा है। पुराने जमाने में लोग आत्म-विकास के लिए और अपनेआपको पहिचानने के लिए ज्ञानार्जन कियाकरते थे। आजीविका और भरण-पोषण जैसी तुच्छ क्रियाओं के लिए वे ज्ञानार्जन नहीं करते थे। पुराने जमाने में राजा-महाराजा और सम्राट् तक ज्ञानाभ्यास करते थे। किसलिए ? आजीविका के लिए ? नहीं। आजीविका का उनके

सामने कोई सवाल ही नहीं था। वे तो मात्र विद्वान बनने के लिए या दूसरे शब्दो मे कहें तो अपना विकास और अपना उत्थान करने के लिए ज्ञानाभ्यास करते थे। महाराज कृष्ण, गौतम बुद्ध और भगवान् महावीर आदि बडे-बडे राजा और महापुरुष बाल्यावस्था मे ज्ञानाभ्यास के लिए गुरुकुलों में भेजे-गये थे। उनके ज्ञानाभ्यास का एक ही उद्देश्य था कि वे अपने-आपको समझें, विवेक को जागृत करें, हेय-उपादेय के तत्त्व को हृदयंगम करें और जो बातें जीवन को अमर्यादित, पतित और रसातल मे पहुचानेवाली हैं, उनसे सदा बचते रहें। जबतक ज्ञानार्जन का यह उद्देश्य नहीं बनेगा तबतक विद्यार्थीगण उन्नति और उत्थान कैसे कर सकेंगे ? मैं कहूं गा अध्यापकवर्ग विद्यार्थियो को ज्ञान का मूलभूत उद्देश्य समझायें।

ज्ञानमें कुछ न कुछ कमी है

यह देखकर मुझे बडा आश्चर्य होता है कि आज देश में अनेक विद्या-केन्द्र होतेहुए भी लोगों की पिपासा शान्त नहीं है। प्रतिवर्ष सहस्रों विद्यार्थी बडी-बडी डिग्रियां प्राप्तकर शिक्षण-संस्थाओं से बाहर निकलते हैं, प्रतिवर्ष अनेकों शिक्षण-संस्थाओं का नव-निर्माण होता है, फिरभी चारों ओरसे यही आवाज आरही है कि आज देश का पतन होरहा है, नैतिकता और मानवता का गला घोंटा जारहा है। यह क्या है ? क्या यह गलत है, गलत तो हो कैसे सकता है ? जबकि यह आवाज एक

अनाकर्षण क्यों ?

ज्ञान जीवन की मूलभूत पूंजी है। उसके अभाव में मनुष्य अपनेआपको खो बैठता है। आजकल मौतिक ज्ञान जन्य अभिमत है दिलचस्पी के साथ उसका अर्जन कियाजाता है किन्तु मौलिक अध्यात्मनिष्ठ ज्ञान की ओर कोई आकर्षण नहीं। वह सोचनातक इष्ट नहीं कि मैं कौन हूं? कहां से आया हूं? कहां जाऊंगा? मैं बौद्ध धर्मकी मान्यतानुसार अस्थायी—क्षणिक हूं या वैदिकधर्म की मान्यतानुसार—अच्छेद्य अभेद्य अक्लेद्य सनातन-स्वरूपवाला स्थायी? मरने के बाद भी जिन्दा रहूंगा या नहीं? आज इन जीवन विकासी शिक्षाओंका सर्वथा अभाव सा अनुभव होरहा है। जबतक इसप्रकार की मौलिक शिक्षा नहीं दी जायगी तबतक जीवनका संस्कारित होना बहुत मुश्किल है। इसके साथ-साथ यह भी सही है कि जबतक जीवन संस्कारित नहीं होगा तबतक ज्ञानार्जनका प्रयास भी सफल नहीं हो सकेगा।

भ्रामक उद्देश्य

आज ज्ञान का उद्देश्य गलत होरहा है। पुराने जमाने में लोग आत्म विकास के लिए और अपनेआपको पहिचानने के लिए ज्ञानार्जन कियाकरते थे। आजीविका और भरण-पोषण जैसी तुच्छ क्रियाओं के लिए वे ज्ञानार्जन नहीं करते थे। पुराने जमाने में राजा-महाराजा और सम्राट् तक ज्ञानाभ्यास करते थे। किसलिए? आजीविका के लिए? नहीं। आजीविका का उनके

सामने कोई सवाल ही नहीं था। वे तो मात्र विद्वान बनने के लिए या दूसरे शब्दों मे कहें तो अपना विकास और अपना उत्थान करने के लिए ज्ञानाभ्यास करते थे। महाराज कृष्ण, गौतम बुद्ध और भगवान् महावीर आदि बड़े-बड़े राजा और महापुरुष बाल्यावस्था मे ज्ञानाभ्यास के लिए गुरुकुलों मे भेजे-गये थे। उनके ज्ञानाभ्यास का एक ही उद्देश्य था कि वे अपने-आपको समझें, विवेक को जागृत करें, हेय-उपादेय के तत्त्व को हृदयंगम करें और जो बातें जीवन को अमर्यादित, पतित और रसातल मे पहुचानेवाली हैं, उनसे सदा बचते रहें। जबतक ज्ञानार्जन का यह उद्देश्य नहीं बनेगा तबतक विद्यार्थीगण उन्नति और उत्थान कैसे कर सकेंगे ? मैं कहूंगा अध्यापकवर्ग विद्यार्थियो को ज्ञान का मूलभूत उद्देश्य समझायें।

ज्ञानमें कुछ न कुछ कमी है

यह देखकर मुझे बडा आश्चर्य होता है कि आज देश में अनेक विद्या-केन्द्र होतेहुए भी लोगों की पिपासा शान्त नहीं है। प्रतिवर्ष सहस्रों विद्यार्थी बडी-बडी डिग्रियां प्राप्तकर शिक्षण-सस्थाओं से बाहर निकलते हैं, प्रतिवर्ष अनेकों शिक्षण-सस्थाओं का नव-निर्माण होता है, फिरभी चारों ओरसे यही आवाज आरही है कि आज देश का पतन होरहा है, नैतिकता और मानवता का गला घोंटा जारहा है। यह क्या है ? क्या यह गलत है, गलत तो हो कैसे सकता है ? जबकि यह आवाज एक

पा रो की नहीं सब लोगों की है ? वास्तव में इस आवाज को आज गलत नहीं बताया जासकता। यह क्यों ? जो ज्ञान जीवन को बनानेवाला है यदि उससे जीवन नहीं बनता है तो फिर वह ज्ञान कहां रहा ? आजतो यहभी कहा जा सकता है कि ज्ञान के पीछे एक वि और लगगया है इसलिए आज ज्ञान साधारण न रहकर विशिष्ट बनगया है। वह है विज्ञान। विज्ञान आज अपनी पराकाष्ठा पर पहुंचा हुआ है। फिरभी क्या कारण है कि जीवन पगु और कुठित बनाहुआ है। अवश्य कहीं आज के ज्ञानमें त्रुटि है उसमें कुछ न कुछ कमी है।

निर्जल अन्न हानिकारक

विचार करने से यह पता चलता है कि ज्ञान के साथ जो दूसरी वस्तु चाहिए उसका अभाव है। मेरे कहने का यह मतलब नहीं कि पढ़ना नहीं चाहिए वरन् यह है कि अन्न खाना तभी कारगर होता है जबकि पास में पीने के लिए जल भी विद्यमान हो। जलके अभाव में अन्न खाना अत्यन्त हानिकारक और अनुतापकारक होता है। हां, अन्न यदि चार दिन भी न खायें तो काम चल सकता है किन्तु जल के अभाव में केवल अन्न से एक दिन भी निकालना मुश्किल है। यही मैं कहना चाहता हू कि आज विद्या की कोई कमी नहीं है किन्तु उसके साथ अन्न के साथ जलकी तरह जो दूसरी वस्तु चाहिए उसका अभाव है। आप जानना चाहें वह दूसरी वस्तु क्या है ? वह है चरित्र।

आप विचारकर देखिए—आज जितनी ही विद्या की प्रगति हुई है, उतनी ही चरित्र की अवनति। और चरित्र की अवनति के कारण ही आज प्रत्येक क्षेत्र मे समस्याओं, बाधाओं और उलझनों की भरमार है। इसलिए ज्ञान के साथ चरित्र का होना परमावश्यक है। तबही ज्ञान का उपयोग सदुपयोग कहलायेगा। अन्यथा बिना चरित्र का ज्ञान किसी काम का नहीं। उससे समस्यायें सुलझेगी नहीं बल्कि और अधिक खड़ी होगी। ज्ञान और सदाचार परस्पर एक दूसरे के पोषक है। इस दृष्टिकोण पर सब ध्यानपूर्वक विचार करें।

एक चक्के से गाडी नहीं चल सकती

आप जानते हैं और आपने संभवत सुना भी होगा कि राजा रावण कितना बड़ा पंडित था। उसके पास ज्ञान की कोई कमी नहीं थी। किन्तु जब वह दुश्चरित्री बनगया, चरित्रहीन बनगया तब उसे राम और लक्ष्मण के हाथों कुत्ते की मौत मरना पड़ा। विद्यार्थी लोग समझें, आचारभ्रष्ट रावण के किस्से से यह सबक लें कि आचारशून्य केवल विद्या, विद्वता किसी काम की नहीं। जीवन आचारी होना चाहिये, आचारी जीवन में यदि विद्या की कमी हो तो वह क्षम्य है। बुजुर्गों का उदाहरण लें, उन वृद्ध माताओं का उदाहरण लें, जो अधिक कुछ नहीं जानती थीं, फिरभी उनका चारित्रिक वातावरण इतना व्यापक और मजबूत था जिसके कारण उनके सक्रिय जीवन का

उनकी सन्तानों पर वास्तविक प्रतिबिम्ब पड़ता था। मैं आपके माता पिता और अध्यापकों पर किसी प्रकार का आक्षेप नहीं करता और न मैं उन्हें हतोत्साह ही करना चाहता हूं सिर्फ मैं तो यही बताना चाहता हूं-गाड़ी एक चक्के से नहीं चलाकरती, दो चक्केवाली गाड़ी ही अपने अभिष्ट स्थानपर पहुंच सकती है। इसलिये विद्यार्थियों में ज्ञान और चरित्र दोनों की ही आवश्यकता है। दोनों मिलकर ही जीवनको विकसित, सफल और सत्कारित बना सकते हैं।

सत्य —सर्वश्रेष्ठ सदाचार का प्रतीक

चरित्र से यही मतलब है कि सबेर से लेकर रात को लेटने तक आपकी कोई क्रिया ऐसी न हो जो किसीके लिये घातक और अनिष्टकर हो। वास्तव में इस प्रवृत्ति को निभानेवाला व्यक्ति ही सदाचारी कहलाने का अधिकारी है। अन्यथा वह सदाचारी नहीं दुराचारी है। सदाचार यदि आप सीखना चाहते हैं तो उसके लिये आपको अधिक परिश्रम करने की कोई आवश्यकता नहीं। बहुत कम बातों को सीखने से ही उसको आप आत्मसात् कर सकते हैं। न उसके लिये बीस चालीस या पचास पुस्तकें पढ़ने की आवश्यकता है ? और न कुछ पैसे खर्च करने की ही। मैं आपको और कुछ न बताकर सदाचारी बनने के लिये मात्र एकही उपाय बताऊंगा वह है—सत्य। आप मद्यपायी बनिये झूठ को हलाहल विष समझकर उससे परहेज

रखिये। सत्य मे सदाचार का अखंड स्वरूप समायाहुआ है, उसका कोईभी अंश सत्य की सीमा से बाहर नहीं है। आप इस पद्य को याद रखिये—

'सत्य से बढकर जगत् में कौन सत्पथ और है,
और सब पगडंडिया यह राजपथ की डार है।
सत्य ही भगवान्, श्री भगवान् यों फरमा रहे
सत्य के गुणगान भी भगवान् मुख से गारहे।।
सत्य की महिमा जिनागममें भरी पुरजार है।।

सत्य कोई छोटी-मोटी पगडडी नहीं है, यह वह राजपथ है जिसपर आप आत्म-विश्वास के साथ बढते चलेजाइये। आपके बीच मे कोई रुकावट, बाधा या मुसीबत नहीं आयेगी और आयेगी तो आपके सत्य-बल, आत्म-बल के सामने वह टिक नहीं सकेगी—हार जायेगी और अन्त मे आपको वह आत्म-समर्पण करदेगी। सत्य से बढकर वह कौन वस्तु जगत् मे होगी जबकि स्वय भगवान् अपने मुख से सत्य को भगवान् कहकर सम्बोधित कररहे हैं, 'सच्चं भयवं'—यह शास्त्र-वाक्य इसीपर प्रकाश डालरहा है। विद्यार्थियों। आप यदि यह प्रतिज्ञा करलें, हम सत्य ही बोलेंगे, झूठ को कभी प्रश्रय नहीं देंगे, तो निश्चित समझिये आपका जीवन सफल है और आपका भविष्य स्वर्णिम है। हा, यह मैं जानता हू कि ऐसा करने में, आपके सामने एक बडी बाधा है। उसको भी मैं स्पष्ट कर देताहूं। वह यह है कि आप सोचते होंगे आज सत्य की

महिमा सर्वत्र गाईजाती है—गुरुजन और शिक्षक जन सब सत्य के लिए पूरा-पूरा बल देते हैं। किन्तु हम अपने घरघर मूठ ही मूठ का वातावरण देखते हैं और सुनते हैं। किसकी मानें ? किसकी बात अच्छी है और किसकी मूठ ? यहांपर मैं आपको यही सलाह दूंगा कि चाहे घर का वातावरण कुछ भी हो और चाहे समूची दुनिया का बहाव भी किधर ही हो आप यह दृढ़ निश्चय कर लीजिये कि हमतो सत्यपर ही डटे रहेंगे। सत्य को हम अपना जीवन समझेंगे सर्वस्व समझेंगे। चाहे आपमें और हजार दुर्गुण हों यदि आप सत्यनिष्ठ हैं तो मुझे उनकी कोई चिन्ता नहीं। आप कहें कि क्या कभी ऐसा हो सकता है ? मैं कहता हूं क्यों नहीं ? आप उस लड़केका उदाहरण याद कीजिये—जो दुनिया के समस्त दुर्गुणों और दुर्व्यसनों का शिकार था। मां-बाप का इकलौता पुत्र था। घरमें पैसे की कमी न थी। प्यार ही प्यार में लड़का बिगड़गया बदमाश होगया। पिता की जब आंखें खुली तो उसे बड़ा पश्चाताप हुआ। मगर अब क्या हो सकता था ? उसने पुत्रको समझाने के लिए अनेक उपाय किये किन्तु पुत्रपर उनका कोई असर नहीं हुआ। संयोगवश एकदिन उस शहर में एक मुनिराज आये। उनका प्रवचन हुआ। प्रवचन में उस लड़के का पिता भी उपस्थित था। उसने विचार किया—ये मुनिराज ठीक हैं। इनके पास लड़के को भेजना चाहिए। पिता ने ऐसा ही किया। लड़का मुनिराज के पास आया। मुनिराज ने लड़के को उपदेश देना प्रारम्भ किया।

साधु-सन्त वास्तव मे बडे प्रभावोत्पादक होते हैं। उनकी गम्भीर बात का तो क्या मामूली बात का भी बडा असर होता है। यह क्यो ? इसमे यही रहस्य है कि वे जो बातें कहते है, वे सब उनके जीवन मे उतरी हुई होती है। यही कारण है उनके साधारण प्रवचन का भी आशातीत प्रभाव पडता है। एक बात और है कि मेरा यह एकान्त निश्चल अभिमत है कि यदि किसी को सन्मार्गपर लाना है तो उसे उपदेश द्वारा हृदय परिवर्तन करके ही लाया जासकता है। इसी महान् सिद्धान्तपर गाधीजी ने देश को आजाद कराया। डण्डे के बलपर और प्रलोभन द्वारा किसी स्थायी सुधार की सम्भावना नहीं की जासकती। जैनधर्म का यही महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। मुनिराज ने यही किया। उन्होने शिक्षा द्वारा बालक का हृदय-परिवर्तन करना चाहा। मुनिराज ने पूछा—'बालक! तुम चोरी करते हो ?' बालक—हा महाराज! मुनिराज ने फिर पूछा—'और क्या करते हो ?' बालक ने कहा—'क्या पूछते हो महाराज! दुनिया के जितने दुर्गुण है मेरे मे वे सब है।' तदन्तर दुर्व्यसनों के दुष्फलों पर विस्तृत प्रकाश डालतेहुए मार्मिक उपदेश फरमाया और बालक से अनुरोध किया कि 'बालक! तुम अपने अमूल्य जीवन को दुर्गुणो के कीचड मे फँसाकर व्यर्थ क्यो खोरहे हो। तुम्हें आज से ही प्रतिदिन एक-एक दुर्गुण छोडनेकी प्रतिज्ञा करनी चाहिए।' बालक ने नम्रतापूर्वक कहा—'महाराज! आप जो कहते है वह मैं अच्छी तरह से जानता हू, किन्तु मजबूर हू। अपनेको उन

दुर्गुणों से पृथक नहीं कर सकता। दुगु ण मेरे जीवनकी प्राकृतिक क्रियायें बनगई हैं उन्हें मैं छोड़ नहीं सकता। हां यदि आप उनके अलावा और किसी दूसरी बात के लिए कहें तो मैं उसको सहर्ष स्वीकार करूं गा।' मुनिराज ने उसको सत्यव्रत अपनाने के लिए कहा। बालक एकबार तो चौंका। वचन का पक्का था। उसने उसी समय झूठ बोलने का परित्याग करदिया। बालक अब बन्धन में आगया। दूसरे ही दिन जब वह प्रहर रात्रि बीतते ही घरमें आया तो उसके पिता सहसा पूछ ही बैठे—'पुत्र! कहां से आया है?' बालक बड़ी मुसीबत में पड़ा। क्या करे? झूठ बोलना नहीं। सच कहे तो भी कैसे कहे? पिता अकेले तो थे नहीं उनके पास शहरके अनेक—नागरिक बैठे थे। दो क्षण तक वह टालमटोल करता रहा, किन्तु पिता आखिर कब छोड़नेवाले थे। आखिर उसको लज्जापूर्वक कहना ही पड़ा—पिताजी! मदिरालय से मदिरा पीकर आरहा हू' यह सुनते ही वहांपर बैठेहुए समस्त लोग उसके प्रति नाना-प्रकार से घृणा प्रकट करने लगे। बालक को बड़ी शर्म आई। उसने उसी समय सर्वदा के लिए मदिरा न पीने की प्रतिज्ञा करली। अगले दिन फिर उसी समय घरमें आते ही पिता ने पूछा—'पुत्र! कहां से आरहे हो?' बालक को बड़ी झुंझलाहट हुई। वह सोचने लगा। मुझसे ये बार-बार क्यों पूछते हैं? मैं जहां चाहू वहां जाऊं, जब चाहू तब आऊं। इनको इससे क्या मतलब? किन्तु आखिर पिता की दृढ़ता के सामने झुकना ही पड़ा। उसने

टूटते हुए स्वरो मे कहा—'पिताजी । . वेश्या... ..गृह से आ रहा हूं । यह सुनते ही वहांपर बैठे हुए तमाम लोग अपना मुह फेरकर छि-छि-छि करउठे। बालक तो मानों जमीन मे गड़गया। उसके ग्लानिका कोई पार नहीं रहा। उसने उसीसमय आगेसे वेश्यागृह जाने का परित्याग करदिया। इसप्रकार एक महीने के भीतर-भीतर उसके सारे दुर्व्यसन छूटगये। विद्यार्थियो ! विचारो, यह किस बात का प्रभाव था ? इसलिए मैं आपको यही सलाह दूंगा कि आप यह दृढ निश्चय करलें कि हमे कभी झूठ नहीं बोलना है। हमेतो सिर्फ पढ़ना है। जीवन ज्ञान-अर्जन में लगाना है। फिर आप देखेंगे कि आप में चरित्र कैसे आजाता है और वह कहा जायेगा ? जहा सत्य-निष्ठा होगी, वहां चरित्र अपनेआप आयेगा। ऐसा कर आप अपना ही सुधार नहीं करेंगे बल्कि अपने कुटुम्ब का, समाज और राष्ट्र का कायाकल्प कर देंगे।

ब्रह्मचर्य की कमी क्यों ?

आचार की एक प्रमुख वस्तुपर मुझे और संकेत करना है। वह है—ब्रह्मचर्य। आप जानते हैं आपका जीवन एक साधना का जीवन है। किन्तु विस्मय होता है, जब मैं यह सुनता हू कि आजके विद्यार्थी-समाज में ब्रह्मचर्य की भयंकर कमी है। वे आज अप्राकृतिक-क्रियाओं में पड़कर अपने देव-दुर्लभ मानव-जीवन को मिट्टी में मिलारहे हैं। हास्य-कुतूहल में पड़कर वे

अपनी आदतों को बिगाड़ रहे हैं। आज उनका नग्न-भ्रष्ट जीवन देखकर किसे तरस नहीं आता ? मैं आपको जोर देकर कहूंगा आप विद्यार्थी-जीवन को साधना का जीवन समझें। यह सोचें कि हमें इस साधना-काल में ब्रह्मचर्य की पूर्ण साधना करनी है। पूर्ण साधना के लिये यह आवश्यक है कि आप स्वाद-संयम करें दृष्टि-संयम करें, वाक्-संयम करें और अश्लील साहित्य, अश्लील संगीत तथा अश्लील सिनेमा से हाथों हाथ दूर रहें। इस विषय में अध्यापकों का यह प्रमुख कर्तव्य है कि वे विद्यार्थियों का पूरा ध्यान रखें। उनको बुराइयों में न फँसने दें। आज वह पुराना युग नहीं जबकि बड़े-बड़े नौजवान भी अश्लील बातों को समझते तक नहीं थे। आजके छोटे-छोटे बच्चे भी बड़ों-बड़ों की आंखों में सफलतापूर्वक धूल झोंक सकते हैं। इसलिये अध्यापकों से मैं यही आशा करूंगा कि वे अपने हाथों में आई हुई इस महान् संपत्ति का सही रूप में निर्माण करेंगे। केवल वाचिक और पुस्तकीय शिक्षा से नहीं वरन् अपने जीवन के सक्रिय आदर्शों के द्वारा उनके सामने सक्रिय शिक्षा प्रस्तुत करेंगे।

उत्तरदायित्व

यह सही है कि शिक्षकों के पास विद्यार्थी तो चार घंटे ही रहते हैं शेष समय उनका अभिभावकों के निकट ही बीतता है। जो अभिभावक दुर्व्यसनी हैं वे अपनी सन्तान को न चाहते हुये भी बिगाड़ते हैं। अभिभावकों व शिक्षकों का जीवन

जितना उन्नत और विकसित होगा विद्यार्थीयोंपर उसका उतना ही अधिक असर पडेगा और तब उनका जीवन उन्नत, विकसित और सस्कारित बननेमे किसी प्रकार की असभावना नहीं रहेगी। शिक्षकवर्ग और अभिभावकजन अपना उत्तरदायित्व समझे।

उपसहार

अन्त मे मै सबसे यही कहूगा कि आज जो ज्ञान के साथ चरित्र की कमी होरही है, ज्ञान अपग होरहा है, सदोष होरहा है, उसपर अविलम्ब ध्यान दें। ज्ञान की इस कमी को दूर कर, यदि विद्यार्थीगण कमर कसकर खडे हों तो आज चारो और 'पतन' 'पतन' की आनेवाली आवाज का मुखभजन कर सकेंगे और इसके साथ-साथ वे देश मे चरित्र का पुनर्गठन कर अपना और दूसरो का बहुत बडा हित-साधन भी कर सकेंगे।

ता० २६-८-५३

उम्मेद हाई स्कूल, जोधपुर

साहित्य-साधना का लक्ष्य

साहित्य का लक्ष्य मनोविनोद अथवा आमोद-प्रमोद नहीं। उसका सही लक्ष्य है— आत्मसाधना की ज्योति से आत्मस्थ माम वाणी द्वारा जन-जन को प्रकाश देना, जागृत करना।

साहित्यकार युग-स्रष्टा है उसका जीवन बलिदान और साधना का जीवन है। उसपर गम्भीर उत्तरदायित्व है। शोषण, विषमता, अत्याचार और जुल्मों की दुनिया को शान्ति, समता और मैत्री के वातावरण से उसे मांजना है।

उसका मार्ग सरल नहीं है, कांटों का मार्ग है। आलोचना और निन्दा की पर्वाह न करते हुए जीवन-शुद्धि के राजमार्ग पर उसे जनता को ले जाना है। स्वार्थपरता, भोगलिप्सा और आडम्बर के विषैले वातावरण से आकुल लोक-जीवन में निःस्वार्थता, त्याग और सादगी का अमृत डालना है। तभी उसका कृतित्व, साधना और सृजन सफल है।

[ता. १-८-५१ को प्रेरणा-संस्थान, जोधपुर की ओर से आयोजित साहित्य-गोष्ठी के अवसर पर]

सफलता का मार्ग और छात्र-जीवन

उपस्थित विद्यार्थियों एवं अध्यापको !

मुझे प्रसन्नता है कि मैं आज आपके बीचमे अपना धार्मिक सन्देश देरहा हू। मेरे जीवनका यह प्रमुख विषय रहा है। या यो समझ लीजिये—विद्यार्थियोके बीच कामकरना मेरा स्वाभाविक विषय है। जैसाकि पूर्व वक्ता Students Association के अध्यक्ष) श्री जोरावरमल बोडा ने बताया मैं जब १३-१४ वर्ष का था तबसे विद्यार्थियोंकी देखरेख रखनी प्रारम्भ करदी थी। इस कॉलिजमे यह पहला ही मौका है। इससे पूर्व भारतवर्षके अनेक शिक्षा-केन्द्रोसे मेरा सम्बन्ध हुआ है। मैं विद्यार्थियोंके बीच गया हूं, उनका अध्ययन किया है। वे क्या चाहते है ? उनकी क्या समस्यायें हैं ? और उनके लिए क्या आवश्यक है ? इन बातोंका मैंने गभीरतापूर्वक चिन्तन और मनन किया है और समय-समय पर करता भी रहता हू।

जीवन का उद्देश्य

आजका युग विकास का युग है। चारो ओर विकासके नये-नये सूत्र सुननेमें आरहे है। मौलिक विकास आवश्यक है

और वह होना ही चाहिए। आपभी अपना विकास चाहते हैं यह ठीक है किन्तु इसके पहले तनिक यहभी सोचना चाहिये कि आखिर मानव जीवन का उद्देश्य क्या है ? जीवन का उद्देश्य यही नहीं है कि सुख सुविधापूर्वक जिन्दगी बितायीजाय शोषण अन्यायसे धन पैदा कियाजाय बड़ी-बड़ी भव्य अट्टालिकाये बनाई जायें और भौतिक साधनों का यथेष्ट उपभोग किया जाय। ऐसे अधूरे और अपूर्ण उद्देश्य को भारतीय संस्कृतिमें कोई स्थान नहीं। यह जीवन का उद्देश्य नहीं बल्कि जीवन के लिए अभिशाप है। भारतीय संस्कृतिमें मानव-जीवन का उद्देश्य कुछ और ही बताया गया है। उसकी दृष्टि में बाह्य सुख-सुविधाओं के लिए छीना झपटी करना कोई महत्त्व नहीं रखता। वह आन्तरिक सुख सुविधाओं को पाने के लिए संकेत करती है। वह बताती है— मानव का उद्देश्य, विकास की चरम सीमा—परमात्मपद तक पहुँचना है।

पंडित नहीं शिक्षित बनिये

यदि आपको इस उद्देश्यतक पहुँचना है तो मैं आपसे कहूँगा—आप पंडित नहीं शिक्षित बनिये। आप जानते नहीं पण्डित और शिक्षित में बड़ा अन्तर होता है। पण्डित उसको कहते हैं जो विद्वान है, पढ़ालिखा है। किन्तु शिक्षित का अर्थ कुछ और ही होता है। शिक्षित बनने के लिए सबसे पहले आप द्रष्टा बनिये। शास्त्रों में कहा है— "दृष्टो पापमस्य वनि —जो

द्रष्टा बनगया उसके लिए फिर उपदेश की कोई आवश्यकता नहीं। जबतक द्रष्टा बननेमे अधूरापन है तबतक ही उपदेश—शिक्षा आदि की आवश्यकता होती है। सभवत आप पूछना चाहते है 'द्रष्टा' से क्या मतलब है? सबके दो-दो आखें है। सब देखते है। नजदीक ही नहीं दूर-दूरतक का ज्ञान करते है। न हमसे आकाश ही छिपा है और समुद्रतल ही। सूक्ष्मता और विप्रकृष्टता का व्यवधान आज हमे देखने मे कोई अड़चन पैदा नहीं करसकता, मै मानता हूं आपकी यह विचारधारा आपके दृष्टिकोण से ठीक है। किन्तु मेरे द्वारा प्रयुक्त 'द्रष्टा' शब्द की परिभाषा इससे सर्वथा विपरीत है। वह है 'अपने-आपको देखना'। जो अपनेआपको देखलेता है उससे कुछ भी छिपा नहीं रहता। इसलिए द्रष्टा वही कहलाता है जो अपनेआपको देखे। दूर-दूर की वस्तु दूरबीन जैसे सूक्ष्मयन्त्र द्वारा देखी जासकती है किन्तु शक्ल नहीं, यदि आप अपनी शक्ल देखना चाहेंगे तो आपको अपने हाथमे दर्पण लेना पड़ेगा।

बन्धनों को तोड़िये

जो जैसा नहीं है उसको वैसा मानना अज्ञान है। भारतीय संस्कृति बताती है—

देहोय मितिय बुद्धिरविद्येति प्रकीर्तिता।
नाह देहाश्चिदात्मेति बुद्धिर्विद्येति भण्यते॥

यह खयाल—जो शरीर है, वही मैं हूं, यह अविद्या—अज्ञानका परिणाम है। मै शरीर नहीं, मैं उससे भिन्न कुछ

और हूँ यह जड़ है मैं चेतन हूँ। अनुभवकर्ता हूँ विवकशील हूँ हेय-उपादेय स्वरूपात्मक बुद्धिवाला हूँ। 'मैं कौन हूँ'? द्रष्टा के लिये यह कोई उलझन नहीं। द्रष्टा बनजानेके बाद न कुछ सुननेकी आवश्यकता रहती है और न कहीं कुछ ग्रहण करनेके लिये जानेकी। आप पूछेंगे— क्या आप द्रष्टा बनगये ?' मैं कहूँगा—अभी हम द्रष्टा नहीं बने हैं। हम और आप दोनोंही द्रष्टा बननेकी कोशिशमें है। हमारा यह अभिमत है कि हमें अपनी विरासतमें जो अमूल्य चीजें मिली हैं उनको हम अपनेमें चरितार्थ करतेहुये दूसरोंतक भी पहुँचायें। हम अभीतक साधक हैं, साधना हमारा लक्ष्य है। सिद्ध हम अभी नहीं हुये हैं। आपभी साधक बनिये, साधना करिये यह मैं आपसे जोर देकर कहूँगा। यहतो स्पष्ट हो ही गया है कि जो द्रष्टा नहीं उनके लिये अभी उपदेश की आवश्यकता है। प्रश्न उठता है— उपदेश क्या है ? उपदेश है 'बुज्झिज्जत्तिउट्टिज्जा' बन्धनों को जानो और तोड़ो। जानना पहले आवश्यक है। बंधनों को जाने बिगर तोड़ना संभव नहीं। तोड़ेबिना आजादी कहां ? और आजादीके अभावमें गुलामी से पिण्ड छूटना क्या संभव है ? इसलिये ज्ञान जानने की सबसे पहले आवश्यकता है।

ज्ञान सिर्फ ज्ञान के लिए नहीं

भारतीय परम्परामें जानना सिर्फ जानने के लिये नहीं ज्ञान सिर्फ ज्ञानके लिये नहीं बल्कि ज्ञान जीवनके लिये है। शास्त्रोंमें

ज्ञानका फल प्रत्याख्यान बतलायागया है। 'नाणे पच्चक्खाण फले' अच्छी और बुरी, हेय और उपादेय, त्याज्य और ग्राह्य, इनको समझकर त्याज्यको छोडो और ग्राह्य को ग्रहणकरो यह है सच्चा ज्ञान और उसका सच्चाफल। आज मुझे यह सखेद कहना पडता है कि भारत अपनी परम्परा, अपनी सस्कृति और अपनी सभ्यता को भूलकर भौतिकवादका अन्धानुकरण कररहा है। भौतिकवादी देशोंमे कला, कलाके लिये की तरह ज्ञान, ज्ञानके लिये माना जाता है, ज्ञानका जो प्रत्याख्यान फल है उसको वहा कोई स्थान नहीं। यही कारण है आज देश मे अनेक शिक्षणशालाओं के होनेपर तथा दिन-प्रतिदिन अनेक नई-नई पैदा होने पर भी विद्यार्थियोंको वास्तविक ज्ञान नहीं मिलरहा है।

सयम का अभ्यास

ज्ञान के साथमें शिक्षा होनी नितान्त आवश्यक है। आज मैं अनुभव करता हूं—ज्ञान, ज्ञानके लिये वाला ज्ञान खूब है, मगर दूसरी ओर जीवनमे शिक्षाका पूर्ण अभाव है। इसीलिये आज सर्वत्र क्लेश और उलझनों का वातावरण छायाहुआ है। आप पूछेंगे—ज्ञान और शिक्षा में क्या भेद है? ज्ञान सिर्फ जाननामात्र है जबकि शिक्षा का अर्थ संयमकी साधना है। जिसमें संयमकी साधना है, उसका जीवन सफल है, कृत-कृत्य है। जिसमें यह नहीं है उसको सयमका अभ्यास करनेकी भरसक चेष्टा करनी चाहिये। यह निश्चित समझिये जिसके सयम का

अभ्यास नहीं वह अपनी मंजिल से बहुत दूर और बहुत नीचे है। मुझे सखेद कहना पड़ता है कि आज शिक्षार्थियों में भी शिक्षा स्वामी संयम की साधना का बहुत बड़ा अभाव है। यही कारण है कि आज शिक्षार्थी समाज में तरह-तरह के अनर्थ अपने डेरे डाले हुये हैं।

शिक्षाका पात्र कौन ?

शिक्षाका स्वरूप कैसा हो और शिक्षाके योग्य कौन व्यक्ति होता है ? इस पर प्रकाश डालते हुए शास्त्रोंमें आठ कारण बत लाये गये हैं —

अह अट्ठहिं ठाणेहिं सिक्खासीलेत्ति वुच्चई

अहस्सिरे सया दन्ते न य मम्म मुदा हरे

न सीले न विसीले न सिया अइ लोलुए

अकोहणे सच्चरए सिक्खा सीलेत्ति वुच्चई

शिक्षा प्राप्त करनेके योग्य वही होता है जो सदा हास्य कुतूहलसे दूर रहता है। हास्य कुतूहल करनेवाला शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकता। इसी तरह जो इन्द्रियों और मन पर काबू रखता है ब्रह्मचर्यका सेवन और इन्द्रियोंका दमन करता है वह शिक्षाके योग्य होता है। जिह्वास्वादी और चाटुकृती कदापि शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकते। जो किसीके मर्मका उद्घाटन नहीं करता वह शिक्षाके योग्य है। मर्मभेदी वचन कहनेवाला दूसरे के अन्तःकरणको बड़ा डालता है। वह शिक्षाके योग्य नहीं।

इसी प्रकार शिक्षाके योग्य वही होता है जो सदाचारी है जिसका आचार खंडित नहीं हुआ है, रसोंमे जिसकी गृद्धि नहीं है, जो अक्रोधी, क्षमायुक्त और सत्य भाषण करनेवाला है। साराश यही है कि शिक्षा ग्रहण करते समय जिनकी सयममे दृढ निष्ठा नहीं रहती वे न तो शिक्षा ही पा सकते हैं और न शिक्षित ही कहला सकते हैं। सही बात यह है कि आजके विद्यार्थियोंमे संयमकी बडी अवहेलना हो रही है। विशेष कर मानसिक सयम तो उनका आज बिल्कुल गिरा हुआ सा प्रतीत होता है। आए दिन परीक्षामे अनुत्तीर्ण कितने विद्यार्थी आत्म-हत्या कर क्या मौतके घाट नहीं उतरते हैं? यह क्या है? क्या परीक्षामें उत्तीर्ण होना ही सब कुछ है। परीक्षामें उत्तीर्ण हो या न हो किन्तु जो पढा है वह तो कहीं नहीं गया। पढनेका सार तब ही है जबकि वह स्वयं संयमकी साधना करता हुआ समाज और देशमे सयमका प्रसार करे, व्यक्ति-व्यक्तिमें सयमकी पावन-पुनीत भावनाको जागृत करे।

ब्रह्मचर्य ही जीवन है।

ब्रह्मचर्य साधनाकी विद्यार्थी-जीवनमे बहुत बडी आवश्यकता है। ब्रह्मचर्य ही जीवन है इसको आप न भूलें। ब्रह्मचर्यको खोकर यथेष्ट उन्नति और विकास करना सम्भव नहीं। वह पढना किस कामका जिससे ब्रह्मचर्यका विकास न होकर उसका ह्रास हो। मैं आपसे अनुरोध करूंगा कि आप विद्यार्थी-जीवन

को एक साधनाका जीवन समझकर उसमें ब्रह्मचर्यकी पूर्ण साधना करें। सदा जागरूक रहें और यह विचार करें कि वे कौन-कौन से कारण हैं जो अब्रह्मचर्यकी ओर ढकेलते हैं। उन कारणोंको खोजकर उनका निर्मूलन करें। उन व्यक्तियोंकी संगति न करें, ऐसा साहित्य न पढ़ें जो जीवनको ब्रह्मचर्यसे हटाकर अब्रह्मचर्य की ओर ले जानेवाला हो।

जीवनकी शिक्षा

पढ़नेके बाद भी जिसमें संयमकी साधना नहीं है, हेय-उपादेयका ज्ञान नहीं है, लाभ्य-भाग्यका विवेक नहीं है वे पठित भी निरे अज्ञानी हैं। ज्ञानके साथ जिनमें शिक्षा नहीं है वे परमार्थ में तो क्या व्यवहारमें भी सफल नहीं हो सकते। वे केवल जाननेके लिये जानते हैं किन्तु वे यह नहीं समझते कि जाननेका प्रयोग कैसे करना चाहिये? मुझे वह घटना याद आ रही है जिसमें कि एक पढ़े लिखे इञ्जीनियरने अपने ज्ञानका कितना हास्यास्पद प्रयोग किया। एक इञ्जीनियर किसी काफिलेके साथ चल रहे थे। जंगलका मार्ग था। आगे चलकर रास्तेमें चारों ओर पानी आ गया। काफिलेके लोग रुक गये। लोगोंने इञ्जीनियरसे सलाह मांगी। इञ्जीनियर साहब फौरन एक कागज और पेंसिल लेकर आगे आये। एक आदमीको जल मापनेके लिये कहा। जल मापा गया। कहीं एक दो हाथ था और कहीं पांच-सात हाथ। इञ्जीनियरने कागज पर नोट कर सारा औसत

मिला लिया। औसत ठीक था उसमे गाडोके डूबने जैसी कोई बात नहीं थी। फिर क्या था ? इञ्जीनियरने तुरन्त गाडोको जल मे उतारनेकी सलाह दी। आगेवाले गाडेमे बच्चोंका झुंड था। ज्योंही वह गाडा कुछ गहरे पानीमे पहुचा कि जलमे डूबने लगा। लोगोंमे भगदड मच गई। वे तुरन्त इञ्जीनियरके पास दौड आये और बोले—"इञ्जीनियर साहब। आपने यह क्या किया ? सारे बाल-बच्चे डूबे जा रहे है।" इञ्जीनियरने तुरन्त अपना कागज निकाला और दुबारा औसत मिलाया। औसत ठीक निकला। बडे गर्वके साथ उन्होंने कहा—'लेखा-जोखा ज्यों का त्यो, छोरा-छोरी डूबे क्यों ? भाई मेरा तो कोई दोष नहीं है, देखलो, यह लेखा-जोखा तुम्हारे सामने है। समझमे नहीं आता औसत ठीक होने पर भी छोकरे-छोकरी क्यों डूबे जा रहे है ? कहनेका तात्पर्य यही है कि जो जीवन शिक्षा प्राप्त नहीं करते, वे कहीं भी सफल नहीं होते। वे अपने साथ-साथ औरोको भी मुसीबतोंमे फंसा देते हैं। बडे-बडे अनर्थ कर बैठते हैं।

सयम का माध्यम—अणुव्रत

यदि आपको वास्तवमे शिक्षित बनना है तो आप संयमकी साधना करिये। मैं कहूगा इसके लिये अणुव्रत योजना अत्यन्त उपयोगी है। आप कहेंगे वह तो एक जैन सम्प्रदाय विशेषकी योजना है। हम उसे क्यों अपनायें ? क्या हमे जैन बनना है ? मुझे सखेद कहना पडता है—आज साम्प्रदायिकताका भूत किस

विकृत रूपमें सबके दिमागों पर छाया हुआ है। मैं मानता हूं साम्प्रदायिकता अच्छी नहीं पर क्या कभी सम्प्रदाय विचारकों का समाज' भी बुरा होता है। सिर्फ नाम मात्रसे ही भड़क जाना अच्छा नहीं यह सकुचित और सकीर्ण मनोवृत्तिका द्योतक है। सवाल तो यह है कि आप पहले मानवताकी दृष्टिसे इस योजनाका अध्ययन करें, विचार करें। मैं विश्वासपूर्वक कह सकता हूं कि आप इन नियमोंको पढ़कर यही सोचेंगे—अनुभव करेंगे कि ये नियम तो किसी एक सम्प्रदाय या वर्ग विशेषसे सम्बन्धित नहीं ये तो हमारे शास्त्रोंमें भी बताये गये हैं।

आत्म-विजयके पथिक

खेद तो इस बातका है कि आप साधुओंके विषयमें सशंक रहते हैं। आज आपमें कितने ऐसे नहीं है जो चलते ही कह डालते हैं कि ये साधु-बाधु क्या हैं समाज पर बोझ हैं? भारभूत हैं मैं मानता हूं यह कहना बिल्कुल निर्मूल नहीं। उनके सामने कुछ ऐसे ही साधु आते हैं जिनसे उनकी धारणा ऐसी बन जाती है। किन्तु साधु मात्रके लिये ऐसी धारणा करना उचित नहीं। जब साधुओंके विषयमें मैं आपको स्पष्ट बता दूं कि वे समाजके लिये तनिक भी बोझ या भारभूत नहीं हैं। वे 'जिन के अनुयायी हैं। जिन' वे होते हैं जो विजेता हैं। आत्मजयी हैं वीतराग हैं और समस्त कर्माणुओंका नाश करनेवाले हैं। वे आज भी अपने पवित्र उद्देश्यको अक्षुण्ण रखते हुए आत्म-विजयके मार्गमें प्रस्तुत

हैं। 'उठें और उठायें' यही उनके जीवनका ध्रुव-मन्त्र है। वे आजके लोगोकी तरह सुधारकी थोथी आवाज नहीं लगाते। आज ऐसे लोगोकी कमी नहीं जो स्टेज पर खडे होकर जीवन सुधारके विषयमे बडी-बडी वक्तृतायें झाडते रहते है। पर यदि उनके जीवनको देखा जाय तो उनसे घृणा होने लगती है। भला जिनकी कोई अच्छी जिन्दगी नहीं, आचरणोंकी कोई योग्यता नहीं, क्या वे भी कुछ कहने और प्रेरणा देनेके अधिकारी हो सकते हैं ? उन्हें क्या मालूम सुधार और उत्थान कैसे होता है ? सुधार और उत्थान केवल बातोंसे होने जैसी चीज नहीं है। उसके लिये अपनी कुर्बानी करनी पडती है। बलिदान करना होता है। तब कहीं जाकर सुधार और उत्थानकी कथा साकार होती है। जैन साधु इसी मन्त्रको लिये चलते हैं। वे यही कहते हैं तुम जो उपदेश करना चाहते हो पहले उसे अपने आचरणोंमे उतारो और फिर लोगोंसे कहो।

जैन साधु ५ नियमोंका पालन करते हैं—अहिंसा, सत्य, अचौर्य्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। मैत्री-विश्वबन्धुत्ताका प्रचार करना उनका प्रमुख कर्तव्य है। अहिंसा उनका जीवन है। अहिंसाको जो कायरता की जननी कहते हैं वे भूल करते हैं। कायरताकी जननी तो हिंसा है। अहिंसा वीरत्व की जननी है। वीरों का वह आभूषण है। किसीको तनिक भी क्लेश न पहुचाते हुये अध्यात्मकी राह पर हँसते-हँसते अपने प्राण न्यौछावर कर देना क्या कायरता है ? यह तो उत्कृष्टतम वीरता का प्रमाण

है। साधुके लिये मात्र हिंसा त्याज्य है। इसी प्रकार वे पूर्ण सत्यका पालन करते हैं किसी प्रकारकी चोरी नहीं करते, ब्रह्मचर्य की पूर्ण साधना करते हैं और किसी भी प्रकारका संग्रह नहीं करते। साधुओंके कहीं कोई स्थान नहीं होता और न उनके लिये कहीं भोजन पानी भी तैयार होता है। वे किसी प्रकारकी सवारी नहीं करते, उनकी यात्रा पैदल होती है। पैदलीमें जब विनोबाजी से मुलाकात हुई तो उन्होंने कहा—आजकल मैंने भी आपकी चीज स्वीकार कर ली है। मैंने कहा—आपने तो अब की है हम तो शताब्दियों और सहस्राब्दियोंसे ही पैदल यात्रा करते आ रहे हैं। आप सोचें जिनके जीवनमें ऐसे महत्वपूर्ण आदर्श हैं क्या वे समाजके लिये भार हैं? जो निरन्तर अवैतनिक रूपमें समाजका मविक पथ-प्रदर्शन करते रहते हैं जो हर समय निःस्वार्थ भावसे समाजको उपदेश और शिक्षा वितरण करते रहते हैं क्या वे किसीके लिये भी बोझ हैं? व तो उत्कृष्टतम साधक हैं और समाजको भी साधनाके उच्चतम शिखर तक पहुँचाने का अविरत व अविलम्ब प्रयत्न करते रहते हैं।

जैन साधुओंसे चौंकनेके दो कारण हैं। एक तो आपका उनसे संपर्क नहीं है। दूसरेमें आप उनकी वेश-भूषाको देखकर चौंक उठते हैं। आप सम्भवतः सोचते होंगे इन्होंने मुह पर पट्टी क्यों बांध रखी है। लुधियाना (पंजाब) की बात है। मैं वहांके गवर्नमेन्ट कालिजमें प्रवचन करनेके लिये गया था। विद्यार्थी लोग साधुओंकी वेशभूषा देखकर आपसमें मजाक उड़ाने लगे।

एकने पूछा—ये मुह पर पट्टी क्यो बाधते है ? दूसरे ने उत्तर देते हुए कहा—मुह का ऑपरेशन कराया है। तीसरे ने इससे भी आगे कहा—मुहमे मक्खी-मच्छड आदि पड जाते है इसलिए पट्टी बाध रखी है। मै उनकी गप शप और शोरगुलको देखकर विचार मे पड गया कि ये प्रवचन कसे सुनेगे ? मगर ज्योंही मैने सर्वप्रथम उलझनो, भ्रान्तियो और समस्याओ को लेकर प्रवचन प्रारम्भ किया कि वे सब शान्त होकर प्रवचन सुनने लगे। मैने कहा—विद्यार्थियों ! आप इन साधुओंकी उलझन मे मत पडिये। ये कोई दूसरी दुनिया के नहीं हैं, आपके ही भाई बन्धु हैं, आपमे से ही निकलकर ये इस जिन्दगीमें अग्रसर हुए है। इनकी वेशभूषा भ्रान्ति या दिखावट पैदा करने के लिए नहीं वल्कि सादगी का प्रतीक है। मुह पर पट्टी बाधने के पीछे भी एक गहरा सिद्धान्त वल है। यह भी एक साधना का अंग है। यह दूसरी बात है कि सबके यह जचे या नहीं। जन शास्त्रो मे बताया गया है कि बोलते समय जो तेज और जोशीली हवा निकलती है उसके बाहर की हवा के साथ टकराने से वायुकाय के जीवो की हिंसा होती है इसलिए इस पट्टी को बाधने का यही मतलब है कि वह हवा तेज न निकल कर धीमे से निकल जाये। इसका मतलब न तो कीड़े-मकोडे आदि पडने से ही है और न कोई आपरेशन से ही। तथ्य के समझ मे आते ही सब शान्त हो गये और फिर पूरा प्रवचन सबने बडे ध्यान और शिष्टता-पूर्वक सुना।

विषमता असह्य

आज आप जानते हैं असहकारी दुनिया है। साम्यवाद को लेकर चारों ओर हलचल सी मच रही है। लोगोंके लिए साम्य वाद चिंताजनक बन रहा है। लोग सोचते हैं साम्यवाद आने पर क्या हो जायगा? तथा कथित धार्मिक लोगों की तो और बुरी गति है। देहली प्रवास में कान्स्टीट्यूसन क्लब में एक व्यक्ति ने मुझसे प्रश्न किया—क्या भारतमें साम्यवाद आयेगा? मैंने कहा—अगर आप बुलायेंगे तो आयेगा? अन्यथा नहीं।

आजका युग समानता का युग है। लोग आज विषमता को सहन नहीं कर सकते। उनके लिए यह असह्य है कि एक व्यक्ति के पास तो पांच-पांच मोटरें हों और एक के पैरों में जूता ही न हो। समानता का सिद्धान्त कोई नया सिद्धान्त नहीं है। प्राचीन शास्त्रों में भी समानता पर बल दिया गया है। फर्क सिर्फ इतना ही है कि दोनों के तरीकों में अन्तर है। तरीके चाहे कुछ भी हों आखिर समानता लाना दोनों का ही ध्येय है। हमारी दृष्टि में हिंसासे किया गया परिवर्तन चिरकाल तक स्थायी नहीं हो सकता। हृदय परिवर्तन द्वारा लाया गया परिवर्तन ही स्वस्थ सुखद और चिरकाल स्थायी हो सकता है। निराशावादी कहेंगे—क्या ऐसा होना कभी सम्भव है। एक-एक का हृदय परिवर्तन कर सबको एक सूत्रमें बांधना—एक असम्भाव्य कल्पना है। मगर मैं निराशावादी नहीं आशावादी हूं। आज अगर नेता साहित्यिक दार्शनिक कलाविद् और कवि हिंसा के

वातावरण को फैलाना छोड़कर अहिंसा के पुनीत वातावरण को फैलाने में जुट जायें तो क्या यह सम्भव नहीं कि अहिंसा का उज्ज्वल आलोक कण-कण में छलक उठे।

धर्म से भिड़कें नहीं

मैं चाहता हूं विद्यार्थियों के जीवन मे धर्म का सचार हो। आप धर्म शब्द से चौंके नहीं। मैं उस धर्मके विषयमे नहीं कहता जो पूंजीपतियो का पिट्ठलग्गू हो, उस धर्म के विषय मे भी नहीं कहता जो शोषण का माध्यम बना दिया गया है, उस धर्म के विषय में भी नहीं कहता जो आडम्बरो और दुराचारो को प्रोत्साहन देता है। मगर मैं तो उस धर्म के विषय मे कहता हूं जो व्यक्ति-व्यक्ति का समान आश्रयदाता है। जिसमे लिंग, रग और जाति पाति आदि का कोई भेद भाव नहीं। जिसको निर्धन और धनिक दरिद्र और पूंजीपति सभी समान रूप से ग्रहण कर सकते हैं। मेरे दृष्टिकोण में सद्‌भाव और समानता पैदा करनेवाला वह धर्म किसके लिए आवश्यक नहीं है। बुद्धिवादी लोग धर्म को विष से भी अधिक अनिष्टकर मानने लगे हैं। इसका दोष तथा कथित धार्मिक लोगों का ही है। उन्होंने धर्म के पवित्र वातावरण को अपनी तुच्छ स्वार्थ सिद्धिको लेकर इतना गन्दा और कलुषित बना दिया कि जिसे देखकर आज किसके हृदय मे चोट नहः पहुचती।

उपसंहार

अन्त में मैं आपसे यही कहूं गा कि आपलोग अगर कल्याण चाहते हैं तो अहिंसा और अपरिग्रह की महान शक्ति के आधार पर राजनैतिक, सामाजिक पारिवारिक और आर्थिक किसी भी समस्याको हल निकालकर दुनियाकी तस्वीर बदली जासकती है। विनोबाजी और क्या कह रहे हैं। अभी अभी जब आजूबी मिले तो वे यही कह रहे थे कि विनोबाजी का कहना है कि अब शीघ्र ही एक अहिंसात्मक क्रान्ति होनेवाली है। वह रुकेगी नहीं मैं भी यही कह रहा हूं—अहिंसा और अपरिग्रह की भावना फलाना मेरा प्रमुख कर्तव्य है और जब वह भावना व्यापकरूप पकड़ने लगेगी तब क्या जो अहिंसात्मक क्रांति होनेवाली है वह रुकेगी ?

बस मैं पुन इन्हीं वाक्यों को दुहरा देता हूं—आप उठें, जागें जीवनका निर्माण करें दृष्टा बने क्योंकि पारमहंस 'परिव दृष्टा बनने के बाद उपदेश की फिर कोई आवश्यकता नहीं रहेगी। इसलिए आप पंडित नहीं सबसे पहले शिक्षित बनिये। तब ही आपका और आपके समाज का तथा देश का सही अर्थ में कल्याण होगा।

ता० ४ ५१

बड़चाल कॉलेज जोधपुर (राजस्थान)

त्रिवेणी-स्नान

पर्युषण-पर्व अध्यात्मका प्रतिनिधि पर्व है। इसलिए कि इसमे आत्म-आलोचन या आत्म-निरीक्षण के अतिरिक्त अन्य कोई पर्व-लक्षण नहीं।

मर्यादा का अतिक्रमण सबके लिए अक्षेमकर होता है। मनुष्य विवेकशील है किन्तु विविक्त-आचार नहीं है—स्वमर्यादा मे नहीं है। वह पर-मर्यादा मे जाता है—कहीं मुरझाता है, कहीं उलझता है, किसी को मित्र मानता है, किसी को शत्रु। इस प्रकार वह अपने हाथों अपने लिए अनन्त बन्धन रच लेता है। आत्माका सहज आनन्द दब जाता है। बाहर से आनन्द लाने के लिए फिर अनेक आमोद-प्रमोद के पर्व मनाये जाते है। मैं चाहता हू कि पर्युषण-पर्व को वह रूप न मिले। यह बाहरी आनन्द, रूढि का पालन और वाणी-विलास का रूप न ले।

आत्म शोधन के इस महान पर्व मे आचार-शुद्धि, विचार-शुद्धि, विश्वास-शुद्धि की त्रिवेणी बहे, पूरे वर्ष के लिए सहज आनन्दका सबल जुटे, तभी इसका पर्वरूप सफलता लासकता है।

[ता० ५ ९ ५३ को अ० भा० जै० श्वे० तेरापथी युवक परिषद् द्वारा आयोजित पर्युषण पर्व समारोह के अवसर पर]

क्षमा

जीवन का मूल मन्त्र—क्षमा

संसार दुःखी है और वह इसलिए दुःखी है कि आज व्यक्ति व्यक्ति की मानसिक स्थिति असन्तुलित बनी हुई है। मनुष्य अपने गुण-अवगुण को पहचान नहीं सकता। फिर दुःख क्यों न हो? दुःख को दूर तो तभी किया जा सकता है जबकि मनुष्य गुण पर गर्व न करे और अवगुणों से पल्ला छुड़ाए। जब तक ये दो बातें नहीं होती तब तक दुःख दूर होना सम्भव नहीं। जब यह होगा तब निश्चित समझिये आत्मामें समताका निर्मल स्रोत फूट पड़ेगा। तब अनिर्वचनीय आनन्द बरसानेवाला समत्वभावना अपने आप मानवताकी महान् विजय का शंखनाद फूंकेगा। क्षमा साधक-जीवन का मूल मन्त्र है। इसके अभाव में साधक-जीवन की प्रगति अवरुद्ध हो जाती है। जो क्षमा से विमुख होकर क्रोध को प्रश्रय देते हैं वे मानों अपने हाथों अपने पैरों पर कुल्हाड़ी चलाते हैं। क्रोधी व्यक्ति क्षण भर भी सुख प्राप्त नहीं कर सकता। उसका अन्तःकरण क्रोधाग्नि में क्षण प्रतिक्षण जलता रहता है। होठों में अस्वाभाविक फड़कन और

आंखों मे लाली छाई रहती है। उस पर भी जो गम्भीर गुस्से वाले, हठीले, गठीले होते है, उनके दुःख और अशान्तिका तो कहना ही क्या? कहते है —नरकमे प्राणीको एक क्षण भी सुख व शाति नहीं मिलती। यह है नरककी बात, किन्तु जो हठीले और गठीले व्यक्ति हैं उनमे इस नरकवासियोसे कुछ अन्तर है क्या?

चिकित्सा पद्धति का आविष्कार

मानव-जीवन की इस महान् कमजोरी को अनुभव कर आत्मदर्शियों ने इस भयंकर रोग को मिटाने के लिए खमत-खामना जैसी पावन-पुनीत चिकित्सा पद्धतिका आविष्कार किया। यह उनकी महान् देन है, जिसको कभी भुलाया नहीं जासकता। इस महान् चिकित्सा पद्धति का प्रयोग कर कितनो ने अपना जीवन परिष्कृत किया, यह तथ्य जैन इतिहास के विद्यार्थियों से अज्ञात नहीं। आज भी इस चिकित्सा-पद्धति के सहारे कितने व्यक्ति अपने जीवन की पाशविकता को निकालकर मानवीय आदर्शोंकी प्रेरणा ग्रहण करते है, इससे भी आज हम अनभिज्ञ नहीं। हम उन महान् महर्षियों के हृदय से कृतज्ञ हैं, जिन्होंने मानवीय दुर्बलताओं को चुनौती देते हुए भीषण अन्धकारमें एक विराट्-प्रकाश-स्तम्भ का निर्माण किया है।

अनुकरणीय घटना

यह बात नहीं है कि क्रोधी व्यक्ति को अपनी दुर्बलता का भान नहीं होता, वह अपनी कमजोरी के लिए भीतर रोता है।

वह चाहता है कि आपसी वमनस्य मिट जाय। मगर मिटे कैसे? पहल कौन करे? दोनों को अपनी अपनी प्रतिष्ठा का ख्याल रहता है। लोग क्या कहेंगे—अमुक व्यक्ति कमजोर है, हार खागया। कमजकाली लोग इन तुच्छ उलझनों में उलझे रहते हैं व अपने मार्गका सही निमाण नहीं कर सकते। मैं पूंजीपति या शक्तिवालों को बड़ा नहीं समझता बड़ा मैं उसे मानता हूं जो वैमनस्य को मिटाने के लिए पहल करता है। वह फिर चाहे साधारण स्थिति वाला ही क्यों न हो सामने वाले का मुका लगा हृदय परिवर्तन कर देगा और उसकी गति को मोड़ देगा। मुझे वह मेवाड़ की घटना याद आरही है जिसमें कि एक हरिजन और एक महाजन उस समय के शब्दों में कहूं तो एक सेठ और एक ढेड में परस्पर में कुछ अच्छा सम्बन्ध था। कारणवश उनका वह सम्बन्ध टूट गया और आपस में अनबन व वैमनस्य रहने लगा। वैमनस्य बढ़ा तो इतना बढ़ा कि आपस का लेन देन और यहां तक कि बोल चाल भी बन्द हो गई। सेठ ढेड को देखकर जल उठता है और मुह फर लेता है और ढेड सेठ को देखकर। लगभग १ वर्ष बीत गए किन्तु उनका तनाव कुछ भी कम नहीं हुआ। संयोगवश एक दिन आचार्य भिक्षु के विद्वान शिष्य हेमराजजी स्वामीका वहां आगमन हुआ। सर्व प्रथम उनकी नजरमें वे आये। वह सन्तोंका भक्त था। उसने विचार किया गांवमें किसीको मालूम नहीं है अगर मैं सूचना नहीं दूंगा तो कौन सन्तोंके सामने आएगा और कौन सन्तोंका

स्वागत करेगा ? किन्तु" किन्तु ' उस सेठ को मैं कैसे सूचना दूँगा ? जिसको मैं देखना, सुनना और समझना तक नहीं चाहता। दो क्षणतक उसके हृदयमे अन्तर्द्वन्द्व मचा रहा। वह क्या करे ? सेठको सूचना दिये बिना कार्य सम्पन्न होना कठिन-सा लगता था। इतने ही मे उसे एक प्रकाश-पुञ्ज दिखाई दिया। उसका सारा अन्त संघर्ष समाप्त हो गया। उद्वेग और चिन्ताकी लपटें एक साथ शांत हो गई। उदारता और विवेकका महान् स्रोत उसके हृदयमें उतर आया। उसने विचार किया, सेठसे जो मेरा वैर-विरोध है वह दुनियावी झंझट है। आखिर हम दोनोंका धर्म तो एक ही है। धर्मको लेकर हम दोनोंमे कोई विभेद नहीं। अत धार्मिक कर्त्तव्यके नाते मुझे सेठको अवश्य सूचना देनी चाहिए। वह सोचकर वह वहाँ से दौडता २ सेठके मकान पर पहुचा और बाहरसे ही उच्च स्वरसे आवाज लगाई। सेठ, ढेढ़को अपना नाम लेकर पुकारते देख आश्चर्य चकित रह गया। उसने तुरन्त कहा क्यों भाई ? क्या कहते हो ? ढेढ ने कहा—"गांवमें सन्त आ रहे हैं"। सेठने पूछा—"किधरसे" ? ढेढने कहा—"इधरसे"। बस इतना कहकर ढेढ वापिस सन्तोंके सामने दौड आया। इधर सेठ भी सबको सूचना देकर सन्तोंके सामने आया। सन्त गांवमें पधारे, व्याख्यान हुआ। सेठके विचार आज मन ही मन में चक्कर काट रहे थे। ढेढने आज उसके मर्मको झकझोर डाला था। सेठने विचार किया—ढेढ कितना उदार है जो मुझे सूचना देने मेरे घरआया। व्याख्यान

बढायें। ऐसे आदर्शपूर्ण मानवीय चित्रोको अपने सामने रख कर आत्म-शोधन करें।

रश्मके रूपमें न मनायें

जब मैं सुनता हूं अमुक गावमे वैमनस्य है तो सोचता हू- व कौन हैं? धार्मिक हैं, जैन है? पोपध, उपवास, सामायिक और नाना प्रकार के त्याग प्रत्याख्यान करनेवाले है? मन मे आता है यह क्या? क्या है वह धार्मिकत्व? और क्या है जैनत्व? जब कि आत्मा मे पशुत्व धसा हुआ है। पशुत्व मनुष्यके आकार-प्रत्याकारमे नहीं रहता, बल्कि वह भीतर घुसा हुआ रहता है।

आज क्षमा-याचना दिवस है। खमत-खामना का अर्थ है अपने द्वारा ज्ञात-अज्ञात रूपमें आचरित अनुचित व्यवहारके लिये क्षमा मागना और अपनी ओर से दूसरो को देना। दोनो ओरके परिमार्जन व विशुद्धि का यह हेतु है। आजके इस महत्त्वपूर्ण दिनसे प्रेरणा लीजिये। स्थिर-चित्त और अन्तर-दृष्टिमय बन कर अपनी अन्तर-आत्मा को टटोलिये। अपना परिमार्जन करिये।

इस महान् पर्वको एक रश्मके रूपमे न मनायें। यह जीवन शुद्धि व आत्मान्वेषणका पुनीत पर्व है। दूसरोंके प्रति कभी असद् भाव व दुर्व्यवहार मत कीजिये। इस प्रक्रियाको समक्ष कर आप हृदयसे पश्चुताके समस्त अंशोंको निकाल कर तथा हृदय को खोलकर खमत-खामना कीजिये। जान या अनजानमे किसी

समाप्त होते ही सेठ परिषद्में खड़ा होकर गद्‌गद् स्वरोंमें अपनी आत्म निन्दा करते हुए हृदयके उद्‌गार प्रगट करने लगा—"भद्रय मुनिवर एवं अन्य भाइयो ! मैं आज अपने दिलकी बात आप सबके सामने रख रहा हूं। देखिये यह जो हेड बैठा है उसके और मेरे बीचमें आज वर्षोंसे भयंकर वैमनस्य चला आ रहा है। मैं समझता हूं आज वह मुनिवर के शुभ आगमनके कारण समाप्त होने जारहा है। इसके पहले मैं यह स्पष्ट शब्दोंमें कहूंगा कि यह हवारचेला हड होते हुए भी सेठ है और मैं सकीर्ण हृदय सेठ होते हुये भी हड हूं। मैं अन्तर-आत्मासे प्रेरित होकर कहता हू कि अगर सन्तोंके आगमनका मुझे पता होता तो मैं त्रिकालमें भी इसको सूचना नहीं देता। इसने ऐसा कर आज मेरे हृदयके सारे कुठित तारोंको झनझना दिया है। इसलिये मैं मानता हूं गुण जन्मसे और विवेकसे यह सेठ है और मैं हेड। मैं आज अपने अकरणीय कृत्यों से लज्जित और नत-मस्तक हूं। मैं बद्धांजलि इससे प्रार्थना करता हूं कि यह क्षमा स्वीकार करे और अपनी ओर से मुझे क्षमा प्रदान करे। हेडने तुरन्त खड़े होकर सबके सामने सेठको क्षमा प्रदान कर मैत्रीपूर्ण वातावरण में खमत-खामणा किया। देखनेवालों ने इस बिगड़े हुये सम्बन्ध का आशातीत सफलतापूर्वक इसप्रकार प्रेम-भावना के साथ सुधरता हुआ देख कर गद्‌गद् स्वरोंमें दोनों की भूरि भूरि प्रशंसा की। इस घटित घटना से जन-जनको यही शिक्षा ग्रहण करनी है कि व विचारें सोचें विवेक पूर्वक एक-एक कदम आगे

बढायें। ऐसे आदर्शपूर्ण मानवीय चित्रोंको अपने सामने रख कर आत्म-शोधन करें।

रश्मके रूपमें न मनायें

जब मैं सुनता हूं अमुक गावमें वैमनस्य है तो सोचता हू- वे कौन हैं ? धार्मिक है, जैन है ? पोषध, उपवास, सामायिक और नाना प्रकार के त्याग प्रत्याख्यान करनेवाले है ? मन मे आता है यह क्या ? क्या है वह धार्मिकत्व ? और क्या है जैनत्व ? जब कि आत्मा में पशुत्व धसा हुआ है। पशुत्व मनुष्यके आकार-प्रत्याकारमे नहीं रहता, बल्कि वह भीतर घुसा हुआ रहता है।

आज क्षमा-याचना दिवस है। खमत-खामना का अर्थ है अपने द्वारा ज्ञात-अज्ञात रूपमे आचरित अनुचित व्यवहारके लिये क्षमा मागना और अपनी ओर से दूसरो को देना। दोनों ओरके परिमार्जन व विशुद्धि का यह हेतु है। आजके इस महत्त्वपूर्ण दिनसे प्रेरणा लीजिये। स्थिर-चित्त और अन्तर-दृष्टिमय बन कर अपनी अन्तर-आत्मा को टटोलिये। अपना परिमार्जन करिये।

इस महान् पर्वको एक रश्मके रूपमें न मनायें। यह जीवन शुद्धि व आत्मान्वेषणका पुनीत पर्व है। दूसरोंके प्रति कभी असद् भाव व दुर्व्यवहार मत कीजिये। इस प्रक्रियाको समझ कर आप हृदयसे पशुताके समस्त अंशोंको निकाल कर तथा हृदय को खोलकर खमत-खामना कीजिये। जान या अनजानमे किसी

के साथ दुर्भावना या दुर्व्यवहार हो गया है तो क्षमा याचना द्वारा आप उसे साफ कर डालिये और आगेके लिये मनमें यह ठान लीजिये कि इस तरहके कार्योंसे आप सदा बचे रहेंगे तभी वास्तविकता होगी, जीवन शुद्धि होगी और आत्माका महान उपकार तथा निर्माण होगा एवं क्षमा-याचना दिवस की महत्ता सहजतया समर्थित होगी।

अपनी बात और कलकी रात

कलकी रात सोनेकी रात नहीं थी। मैंने सरदारशहर से लेकर कल तकका सिंहावलोकन किया। चिन्तन और मनन, आलोचन और प्रत्यालोचनके उतार चढ़ावमें मैंने जी भरकर गोते लगाये। अन्तःस्तलके एक-एक कणको टटोला। जहाँ कुछ ग्लानि या असद् भावना हुई मिली उसको बाहर निकाल कर अन्तःस्तलका विशुद्धीकरण व परिमार्जन किया। अभी मैं सिद्ध नहीं साधक हूं और जब तक वीतराग नहीं हो जाता तब तक यह हो नहीं सकता कि किन्हीं परिस्थितियोंको लेकर मनमें किसी प्रकारकी उथल-पुथल न हो। मैं यह ढोंग रचना नहीं चाहता कि मेरे मनमें निन्दा प्रशंसा या झूठे आक्षेपोंको सुन कर कभी कुछ विचार आता ही नहीं। हां यह अवश्य है इन चोजोंको मेरे हृदयमें कोई स्थान नहीं मिलता और न कुछ आदर-सत्कार ही। फलस्वरूप एक क्षणके लिये जो कुछ विचार आता है वह टिकता नहीं। दूसरे क्षणमें ही वह अपने आप

विलीन हो जाता है। रात भर मैं इसी उधेड़ बुनमें रहा। जो प्रत्यक्ष हैं या जो परोक्ष हैं उन सबको मैंने हृदयसे क्षमा दी और ली। 'मित्तीमे सव्वभूएसु वेरं मज्झ, न केणई' यह तो जीवनका मूलमन्त्र है ही। मगर इतना कहदेने मात्रसे कि ८४ लाख जीव-योनिके साथ मेरा किसीसे विरोध नहीं है, काम नहीं चल सकता। जिनको व्यक्तिगत रूपसे आवश्यकतावश कुछ अधिक कहने सुननेका काम पड़ा उनसे विशेष रूपसे खमतखामना किया। जो हरदम मेरे साथ रहते हैं उनको कर्त्तव्यके नाते कड़े शब्दोंमें ताडना भी देनी पड़ती है, मगर कुछ क्षणोंके बाद मेरा हृदय उनके प्रति गद्‌गद् हो उठता है—आखिर ये हैं कौन, मेरे ही तो हाथ पैर हैं, मैं जिन परिस्थितियोंमें जकड़ा हुआ हूं उनके कारण इनके बिना न तो मैं बैठ ही सकता हू और न एक कदम चल ही सकता हू। इसी प्रकार साध्वियोंको भी आगे बढ़ानेके लिये मुझे यदा कदा कुछ कहना पडता है। इसके साथ लाखों श्रावक-श्राविका भी मेरे सम्पर्क में आते रहते हैं। यद्यपि मैं उनको पहचानता अवश्य हूं मगर किसी-किसीके नाम सम्भवत नहीं जानता सम्भवत ध्यान न जाने पर किसीकी वन्दना भी स्वीकार न की गई हो, किसीको तीव्र शब्दों में उपालम्भ भी दिया गया हो, रातको मैंने उन सबके साथ अन्त करणसे खमत-खामना किया। इसी प्रकार विरोधियोंके साथ, यद्यपि मेरा नारा विरोधको विनोद समझता है, उनके साथ मेरे हृदयमें कोई शिकायत नहीं, तथा उन अन्य समस्त लोगोंके साथ जिनसे

कि अनेक प्रकारकी तात्त्विक चर्चायें चलती रहती हैं सबके साथ रातको क्षमतक्षामना किया।

आखिर में सबसे यही कहूंगा लोग इस महान पर्वको रूढ़िके रूपमें न मनाकर वास्तविक रूपमें मनायें।

[पर्युषण-पर्वके मध्याह्निक कार्यक्रम के अन्तर्गत ता ११ ९ ५१ को क्षमा-दिवसके अवसर पर]

श्रद्धा तथा सत्चर्याका समन्वय करिये

आज जीवनके ऊँचेपन तथा प्रतिष्ठाका मान-दण्ड बदल गया है। जहाँ त्याग, सेवा, सयम व साधना ऊँचेपनका मापदण्ड था, आज वहा अधिक से अधिक अर्थ सग्रह कर लेना ही ऊँचेपन की कसौटी है। फलत विद्या-अर्जन जिसका लक्ष्य आत्म-सयम व चारित्र्य-विकास होना चाहिए, आज आजीविका के लिए किया जाता है। यह हीन मनोवृत्तिका परिचायक है। विद्यार्थियो को यह वृत्ति छोड देनी होगी। वे विद्याके सही लक्ष्यको समझे। आजीविका ही एकमात्र उनका ध्येय नहीं होना चाहिए।

आज श्रद्धा और आत्मविश्वासकी छात्रोमे कमी देखी जाती है। आस्तिक भावना दिन पर दिन क्षीण होती जा रही है, नास्तिकता को बढावा मिल रहा है। आत्माके अस्तित्वमे निष्ठा कम होती जा रही है विद्यार्थी समझे—बाहरसे दीखनेवाला यह जीवन ही जीवन नहीं है। जीवनकी परिधि इससे भी विशाल

है जैसे वृद्धावस्थाके पूर्व यौवन यौवनसेपूर्व बचपन है उसी तरह बचपन व जन्मसे पूर्व भी एक स्थिति है जिसके संस्कार हमें एक ही साथ पदा हुए विभिन्न व्यक्तियोंमें भिन्न भिन्न रूप में दिखाई देते हैं। इस प्रकार आत्मवादका स्वरूप विद्यार्थियों को हृदयङ्गम करना है। जिसके लिये श्रद्धाकी महती आवश्यकता है। श्रद्धापूर्ण तर्क श्रेयस् का हेतु है। जबकि शुष्क तर्क केवल वाग्विलास व दिमागी व्यायाम है।

विद्यार्थी श्रद्धा एवं सत्चर्चाको अपनायें। उनका जीवन विकासशील होगा।

ता १६-९-५१
महाराज कुमार कालेज जोधपुर (राजस्थान)

मेरी नीति

वक्ताओंने मेरे परिचयमे बहुत बातें कहीं और मेरी स्तवना की पर मुझे इससे कोई प्रसन्नता नहीं। मेरे लिए तो आजका दिन अपने लेखे-जोखे, सिंहावलोकन तथा भावी नीतिके उद्घोषण का दिन है।

वर्ष भरकी घटनाएं आज मेरे समक्ष मानो सजीव होकर नाच रही हैं। मैंने आत्म निरीक्षण किया, वर्ष भरका सिंहावलोकन किया। अपनी नीतिके सम्बन्धमे भी आप लोगोंके समक्ष दो शब्द कह दूं—हमारी नीति सदा मण्डनात्मक, समन्वयात्मक रही है और आगे भी रहेगी। किसीकी ओरसे किसी पर व्यक्तिगत आक्षेप नहीं होना चाहिए पर इसका मतलब यह नहीं कि हम शिथिलाचारको देखकर भी कुछ नहीं कहेंगे। हमे चोर पर आक्रमण नहीं करना है, चोरीको खत्म करना है।

जैसा कि मेरा प्रयास है—लोग प्रगति के नाम पर भटके नहीं। प्रगतिका वास्तविक अर्थ है—आत्मशोधन में सजग रहते हुए जनता को आत्म-चेतना तथा व्यवहार शुद्धिमें अग्रसर करना। सही मानेमें यही धर्माराधना है।

धर्म आत्म-शुद्धिका प्रतीक है। वहां संकीर्णता व अनुदारता कैसी? क्या महाजन और क्या हरिजन धर्म सुनने, उस पर चलनेका सबको अधिकार है। धर्म जैसी निखल व्यापक व सार्वजनिक वस्तु पर किसी व्यक्ति-विशेष जाति विशेष व समाज विशेष का अधिकार कैसे हो सकता है? अस्तु।

इस विशाल-भावना-मूलक नीतिको लिए मेरा प्रयत्न है—जन जनमें धर्म भावना सद्वृत्ति सचाई व शीलकी प्रतिष्ठा हो, जिससे मानव-समाज आजके नारकीय जीवन से छुटकारा पा दैवी जीवनमें प्रवेश पासके।

[ता० १७-९-५१ को जयपुर में आयोजित
पट्टोत्सव-समारोह के अवसर पर]

आत्म-दर्शन की प्रेरणा

भारतीय सस्कृति अध्यात्मप्रधान सस्कृति है। वह बहिरग के नहीं अन्तरग के माध्यम से चलती है। वहा बहिर्दर्शन की महत्ता नहीं, अन्तर्दर्शनका मूल्य है।

ऋषियोने बताया—कल्याण चाहनेवाला व्यक्ति अन्तर्द्रष्टा बने। उन्होंने यह भी कहा—मानव खेदज्ञ बने। जैसे अपनेको सताये जाने पर उसे खेद—कष्ट होता है, उसीतरह दूसरोको भी होता है। जैसे भय अपनेको अप्रिय है, उसीतरह दूसरोको भी अप्रिय है। अत दूसरोके लिए भय पैदा न करे। भय प्रमाद है, अन्तर-आत्माका दौर्बल्य है।

अहिसा के लिए आज कुछ लोग कहते है—वह कायरोका धर्म है, कमजोरी है। ऐसा कहनेवाले अहिसा का गूढ तत्व समझ नहीं पाते। अहिसा तो वीर वृत्ति है। मौतका भय ससारमे सबसे बडा भय मानाजाता है। मौत जैसी विभीषिकासे निर्भय

यह हँसते-हँसते साधना-पथ पर प्राण न्यौछावर कर देना—जो अहिंसक भावना से ही संभव है क्या दुर्बलता या कायरता कहा जायेगा ? यह तो अनुपम वीरताका निदर्शन है।

क्योंकि मैंने बताया—प्रमाद भय है दोष है वर्जनीय है वह चरित्र को नीचे गिराता है आत्माका भयानक शत्रु है। अप्रमादका सहारा ले मानव प्रमादको जीते। इससे उसमें निर्भयता आयेगी और आत्मबल जाग उठेगा।

चरित्रका महत्त्व इसलिए है कि इस जीवन से परे भी एक जीवन है। इस जीवनका लोप जीवनका आत्यन्तिक लोप नहीं है। तिसपर भी जीवनका अस्तित्व बना रहता है। वर्तमान जीवनकी सत्-असत् क्रिया-प्रक्रियाओंका परिणाम है आगामी जीवन का निर्माण। वर्तमान जीवन विगत जीवनके कर्मसमुदायकी प्रतिकृति है।

आज लोग अपने आपको नहीं देखते। वे दूसरोंको अधिक देखते हैं। उन्हींका सुधारनेकी कोशिश करते हैं। सबसे पहली आवश्यकता यह है कि वे अपने आपको सुधारें, जीवनको हल्का व सात्विक बनायें। बाह्य पदार्थों व साज-सज्जामें सुखकी कल्पना एक निःसार कल्पना है। आज मानव बहुत ज्यादा परसुखापेक्षी बन गया है। यही कारण है कि उसे सच्चे सुख तथा शान्तिकी सही राह नहीं मिलती।

पुराने जमानेमें न आज जैसे विशाल प्रासाद ही थे और न अन्यान्य भौतिक सुविधाएं ही। शिक्षाका भी आजकी तरह

प्रचार नहीं था। फिर भी लोग सुखी थे। उनमे आत्मशक्ति थी जिसका आज लोगोमे बडा अभाव दिखाई देता है। कहनेको आज लोग स्वतन्त्र कहे जाते है पर वास्तवमे स्वतन्त्र नहीं परतत्र है। वे अपने अन्तस्तत्वको भुलाते जा रहे हैं। इष्ट-सयोग व अनिष्ट-वियोगमे अपनेको सुखी तथा इष्टवियोग और अनिष्ट-सयोगमे अपनेको दुःखी अनुभव करने लगते हैं। इससे अधिक आत्मिक गुलामी और क्या होगी ? पर-पदार्थोंके सयोग-वियोग से सुख-दुःखकी मान्यता आर्त्त ध्यानका कारण है। इससे चित्त अस्त-व्यस्त रहता है। मानसिक चिन्तन विकृत रहता है। आत्मामे सन्तुष्टि अनुभव नहीं होती। यह आत्माका दोष है।

आत्म-दोषोंकी परम्पराको मिटाना ही सही मानेमे सुखकी ओर अग्रसर होना है। क्रोध, मान, माया, लोभ इसी परम्परा के प्रमुख अङ्ग हैं। इनके वश हुआ मनुष्य क्या नहीं कर बैठता। इन दोषोंसे मुक्त होना ही सही मानेमे सुखी बनना है।

आज हर व्यक्ति चाहता है कि मैं दूसरो पर हुकूमत करू, दूसरे मेरे नियन्त्रणमे रहे, मेरा शासन सब पर चले। इस मनोवृत्तिका परिणाम यह हुआ कि मानव अपनेको भुला बैठा। अपने अन्तरतमकी परख छोड बहिर्जगत्मे उसने नजर दौडाई। जीवन की धारा किधर जारही है, इसका उसे भान नहीं रहा। उन्नत होनेके बदले वह अवनत हुआ। इसलिए मेरा कहना है कि यदि मानवको सही रूपमे सुख और शान्तिकी प्यास है तो वह आत्मद्रष्टा बने, पर-द्रष्टा नहीं।

आत्म-दमन तथा आत्म नियन्त्रण ही आत्म विकासका सही सोपान है। भारतीय संस्कृतिका सदासे इस पर जोर रहा है। दूसरोंका दमन करना छोड़ अपने आपका दमन करो। इससे जीवनमें एक नई चेतना और स्फूर्ति जागेगी। बुराइयोंका परिहार होगा, जीवन भलाइयोंकी ओर उन्मुख बनेगा।

आज संसार विषम समस्याओंसे व्याकुल है। वे युद्धों और संघर्षोंसे सुलझनेवाली नहीं। उनके सुलझानेका एकही मार्ग है और वह है आत्मदमन अहिंसक क्रान्ति व नैतिक जागृति का अवलंबन।

[ता० १९-९-५१ को राटेरी क्लब जोधपुर की ओर से मिनर्वा भवन में आयोजित परिषद के अवसर पर]

शान्ति के दो पथ

संसारमें शान्ति और सुख सब चाहते हैं। इसमें कोई दो मत नहीं। पर शान्ति कैसे लाई जाये—इस सम्बन्धमें हमारे सामने दो साधन हैं—हिंसात्मक और अहिंसात्मक। हिंसात्मक साधनोंमें विश्वास रखने वाले जब और-और साधनोंसे विषमता मिट न सके, स्थिति सम बन न सके तब वे हिंसाको प्रश्रय देते हैं। हिंसा से ही वैषम्य मिटायाजाय—ऐसा उनका विचार नहीं। अहिंसावादी कहते हैं—शुद्ध साध्यके लिए साधन भी शुद्ध होना चाहिए। हिंसा या बलप्रयोग-जैसे साधनोंसे पैदा की हुई समता कहने भरके लिए समता है, उसकी तहमें वैषम्यकी ज्वाला धधकती रहती है, समय पाकर वह फूट भी पड़ती है।

ये दो विचारधाराएं हैं। मुझसे पूछाजाय कि किस धारा का अवलम्बन करें—मैं तो अहिंसावादी हूँ। मैं यह कैसे राय दूंगा कि हिंसात्मक साधनोंको आप लें। आज तकका इतिहास

बताता है कि शान्ति लानेके लिए बड़-बड़ युद्ध लड़ाये वैज्ञानिक शस्त्रास्त्रों द्वारा तबाही मचाई गई पर शान्ति आई नहीं। अब यह आशा करना कि हिंसक क्रान्ति से शान्ति लासकेंगे—दुराशामात्र है। अहिंसाके जरिये हम समूचे विश्वको बदल देंगे—यह भी होनेका नहीं। जब तक सारा समाज अहिंसक न बनजाय यह कैसे संभव है?

हमारे लिए सोचनेकी बात यह है कि संसारमें दो तरहके तत्त्व फैले हुए हैं—भलाई और बुराइ। हम चाहते हैं-भलाई बुराई से दब न जाय बल्कि उसे दबाले ताकि भलाईकी मात्रा अधिक रहे बुराइकी कम। यह अहिंसाके अवलम्बन से ही होसकता है।

आज संघर्षका केन्द्र बिन्दु पूंजी है। पूंजीकी प्रतिष्ठा है इसलिए सब उस ओर भागते हैं। जिस प्रकार पूंजीका वैयक्तिक केन्द्रीकरण बंधन है परिग्रह है उसी तरह राष्ट्रगत केन्द्रीकरण भी बन्धन से दूर नहीं। दूसरे राष्ट्रोंके लिए यह ईर्ष्याका कारण बनसकता है। व्यक्तिगतके स्थान पर राष्ट्रगतको प्रतिष्ठित करने से भी समस्याओंका स्थायी और शास्वत हल निकल नहीं सकता। इसलिए मैं बहुधा कहा करता हूँ—साम्यवाद समस्याओंका स्थायी और व्यापक हल नहीं है। यह तो एक सामयिक पूर्ति है। स्थायी हल तभी निकल सकेगा जबकि व्यक्ति व समष्टि में पूंजीके प्रति प्रतिष्ठाका भाव न रहे। प्रतिष्ठा का भाव हो त्याग, सेवा व संयमके प्रति।

जब तक समाज सुधार नहीं जाये, व्यक्ति-सुधारका प्रयास क्यों कियाजाय यह मानकर चलना भी एक भारी भूल होगी। सारा समाज सुधरे, यह बहुत अच्छी बात है पर जब तक ऐसा न हो, व्यक्ति-व्यक्तिका सुधार तो किया ही जाना चाहिए। व्यक्ति समाजका अंग है। व्यक्ति-व्यक्तिका जिस बहुलता से सुधार तथा उत्थान होगा—समाज का एक बहुत बड़ा भाग सुधरेगा। व्यक्ति-सुधार का आधार है—चरित्र सादगी व सच्चाई जो अध्यात्मवाद की अमर देन है। इन्हीं के सहारे विश्वशान्ति की ओर आगे बढ़ा जा सकता है।

[साधना मण्डल, जोधपुर की ओर से ता० २० ९-५३ को आयोजित विचार-परिषद्‌के अवसर पर]

भारतीय दर्शन की धारा

जिज्ञासा या एषणा—खोज मानवीय चेतनाकी सहज वृत्ति है। विश्व क्या है? जीवन क्या है? जीवनका लक्ष्य क्या है—ये वे प्रश्न हैं जो प्रत्येक चेतनाशील मानवके मस्तिष्कमें सदासे उठते आये हैं। विवेकी मानवने सतत् साधना अनुशीलन और अनुभूति द्वारा इनका समाधान ढूढनेमें अपनेको खो सा दिया। इसी चिन्तनके प्रतिफलमें दर्शन मिलता। दर्शन और कुछ नहीं जीवनकी व्याख्या है—विश्लेषण है सत्यकी खोज है। समस्त दर्शनोंका मूल बीज है—दुःखके अभिघात और सुखके लाभकी आकांक्षा। इस मौलिक धारणाकी दृष्टिसे विभिन्न दर्शनोंके उद्गममें अन्तर नहीं, वह एक है। ध्यान रहे—दर्शन केवल विद्वानों तथा विचारकोंके दिमागी व्यायामका विषय नहीं वह तो व्यक्ति-व्यक्तिके जीवन से सम्बन्धित एक आवश्यक व व्यावहारिक पहलू है।

भारतीय दार्शनिकोंने जहां जीवनके बाहरी पक्षको बारीकी से समझा, वहां उन्होंने अन्तर पक्षके पर्यवेक्षण तथा अन्वेषणमें भी कोई कसर नहीं छोडी। भारतीय विचार धाराकी त्रिवेणी जैन, वैदिक और बौद्ध इन तीन प्रवाहोंमें बही। समन्वयकी दृष्टिसे देखाजाए तो हम तीनोंमें अभेद पाते हैं। जहां वैदिक ऋषि विद्या और अविद्याकी विवेचना कर अविद्याकी हेयता और विद्याकी उपादेयता बताते हुए ब्रह्मसारूप्यकी राह दिखाते हैं, जैन तीर्थङ्कर आस्रव और सम्वर अर्थात् कर्मबंध और कर्मनिरोध का विश्लेषण कर आत्मशुद्धिकी प्रेरणा देते हुए निर्वाणकी व्याख्या करते हैं। दूसरी ओर बौद्ध आचार्य दुःख, समुदय, मार्ग आदि आर्य सत्योंको प्रस्तुत कर जन्म-मरणके संस्कारों से छूटनेकी बात कहते हैं।

संक्षेपमें कहाजाए तो सभीने आसक्ति, लालसा, द्वेष और लोभ जैसी वृत्तियोंको बंधन कहा है और उनसे मुक्त होनेकी प्रेरणा दी है। इस प्रकार सूक्ष्म दृष्टिसे निष्पक्षतया सोचनेवालोंके लिए इनमें कोई भेद-रेखा नहीं रहती, प्रत्युत गहरे समन्वय, सामंजस्य और ऐक्यकी पुट मिलती है।

आज दार्शनिक जगत्के लिए यह आवश्यक है कि वह इसी समन्वयमूलक मनोवृत्तिके सहारे आगे बढ़े। दर्शनको, जो जीवन-शुद्धि और आत्मसुखका विधान है, आपसी संघर्षका हेतु न बनाए। कहते खेद होता है—अतीतमें एक बुरा समय अभिशाप बनकर दर्शन-क्षेत्रमें आया—दर्शनके नाम पर रक्तपात हुआ,

सबब हुआ भाई-भाईके बीच वैमनस्यकी भेद रेखाने भा उन्हें अलग किया। वह मूलभरा विचार भा आग इसकी पुनरावृत्ति नहीं करती है।

दर्शन आग्रह हठवादिता और पकड़ नहीं सिखाता। वह तत्त्वका साक्षात्कार कराता है। अपेक्षा-भदसे तत्त्वके अनेक रूप है और वे सबके सब सही है। एकान्तत व अत्यन्तत तत्त्व यों ही है—ऐसा आग्रहपूर्ण प्रतिपादन नही नहीं। जैन मनीषियोंको अनूठी सूझ सापेक्षवाद ने इस समस्याको बड़े अच्छे ढगसे सुलझाया। उन्होंने बताया—एक ही वस्तु का दृष्टिभेद या अपेक्षाभेद से अनेक तरह से प्रतिपादन किया जा सकता है। अपनी अपनी अपेक्षा के सहारे वह सब तथ्यपूर्ण है। एक छोटा सा उदाहरण लीजिये—एक व्यक्ति पुत्र भी है पिता भी है भाई भी है और पति भी है। अपने पिता की अपेक्षा से वह पुत्र है अपने पुत्र की अपेक्षा से वह पिता है अपने भाई की अपेक्षा से वह भाई है और पत्नी की अपेक्षा से पति। यहां पर यह आग्रह अनपेक्षित है कि वह अब पिता है तब पुत्र कैसा। भिन्न भिन्न अपेक्षाओं से उसमें पुत्रत्व पितृत्व भ्रातृत्व और पतित्व आदि अनेक धर्म हैं। दूसरा उदाहरण लीजिये—एक व्यक्ति छोटा भी है और बड़ा भी। बड़ापन और छोटापन दोनों परस्पर विपरीत धर्म हैं पर अपेक्षाभेद से व्यक्ति में दोनों घटित हैं। अपने से बड़े की अपेक्षा वह छोटा है और छोटे की अपेक्षा बड़ा। इस प्रकार सापेक्ष

वाद का सिद्धान्त जीवन की उलझी गुत्थियों को सुलझाता है, आपसी भेद-रेखा को मिटा उसकी जगह अभेद, ऐक्य, समन्वय तथा सामंजस्य को बल देता है। इसीका दूसरा नाम है—स्याद्वाद या अनेकान्तवाद। विश्व के महान् वैज्ञानिक आईन्सटीन की Theory of Relativity का लक्ष्य-विन्दु भी यही है, जैसा कि जानने मे आया है। अस्तु—

अन्त मे मेरा दर्शन के प्राध्यापकों, विचारकों एवं छात्रों से यही कहना है—जैसा कि भारतीय ऋषि सदा से कहते आये हैं—वे प्रेयस् को छोड़ श्रेयस् को पाने का यत्न करें। दूसरों को इस मार्ग पर चढ़ने की प्रेरणा दें। उनके दार्शनिक अनुशीलन और मनन की इसी मे सार्थकता है।

[ता० २६-९-५३ को राजपूताना विश्वविद्यालयके दर्शन-विभाग की ओर से आयोजित व्याख्यान-माला का उद्घाटन करते हुए]

राष्ट्र निर्माण का सही दृष्टिकोण

धर्म उत्कृष्ट मंगल है। वह आत्मशुद्धिका मार्ग है। धर्म निर्माणका साधन है। वह राष्ट्र निर्माणमें कहाँ तक सहायक होसकता है—आज हमें इसपर सोचना है। जैसाकि आज बहुतसे लोग समझने लगे हैं क्या राष्ट्र निर्माणका अर्थ है—एक राष्ट्र अपनी सीमाओंको दूर दूर तक बढ़ाताहुआ उन्हें असीम बनाले ? अन्यान्य शक्तियों और राष्ट्रोंको कुचलकर उनपर अपनी शक्तिका सिक्का जमाले ? दूसरे राष्ट्रोंको अपने अधिकृत करले ? नये नये विध्वंसक शस्त्रों द्वारा दुनियामें अशान्ति और तबाही मचादे ? मैं कहूंगा—यह राष्ट्र निर्माण नहीं उसका विध्वंस है, विनाश है इसमें धर्म कभी भी सहायक हो नहीं सकता। धर्म राष्ट्रके साथ बलात्कारका नहीं आत्माका परिशोधक है। राष्ट्रमें फैली बुराइयोंको जन जनके हृदय-परिवर्तनके सहारे

मिटाता है। धर्म से मेरा मकसद किसी सम्प्रदाय विशेष से न होकर अहिंसा, सत्य, शौच, आचार, सेवा और उपकार जैसे उन शाश्वत सिद्धान्तों से है, जो जन-जन का जीवन-पथ प्रशस्त करते हैं।

धर्म और राजनीति एक नहीं है। जहा इन दोनों को एक कर दिया जाता है, वहा धर्म धर्म नहीं रहता, वह स्वार्थ-सिद्धिका जरिया बन जाता है। जहा धर्मका राजनीतिसे गठबंधन कर लोगोंको बरगलाया गया, रक्तपात और हिंसाने समूचे राष्ट्रमे तबाही मचादी। क्या लोग भूलजाते हैं—"इस्लाम खतरे में है" जैसे नारोंका देशमे क्या परिणाम हुआ। ध्यान रहे—धर्म कभी खतरेमें हो ही नहीं सकता। उसे खतरेमे बतलाने वाले भूलते है कि ऐसा कर वे कितना पाप व अन्याय करते हैं।

धर्म और राजनीतिके मार्ग दो है वे घुल-मिल नहीं सकते। हाँ, इतना अवश्य है कि राजनीति अपने विशुद्धीकरणके लिये धर्म प्रेरणा लेती रहे। धर्मानुप्राणित राजनीतिमें अन्याय, शोषण, ज्यादती, बेईमानी और धोखेबाजी जैसे दानवीय गुण नहीं रहेंगे। वह राजनीति संसारको शान्तिकी ओर बढानेवाली होगी।

"भारत एक सेक्यूलर—धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र है"—इस पर कई लोग कड़ी आलोचना करते हैं। वे सेक्यूलर को धर्मरहित या अधार्मिक के अर्थ में लेते हैं। पर जैसा कि मैंने विधानविदों से सुना—इसका अर्थ अधार्मिक नहीं है। इसका अभिप्राय यह

है—किसी धर्मविशेष का न होकर सब धर्मवालों का राष्ट्र पर समान अधिकार है। भारत जैसे विशाल देश में जहां सैकड़ों धर्म-सम्प्रदाय हैं, एक धर्मविशेष की छाप राष्ट्र पर होना कभी उचित नहीं। अस्तु—अन्त में मेरा यही कहना है कि राष्ट्र की आत्मा—उसमें बसनेवाली जनता के जीवन निर्माण में धर्म के सार्वजनिक सिद्धान्त बहुत बड़ा काम करते हैं। व्यक्ति-व्यक्ति को सुधार का मार्ग दिखा राष्ट्र को एक बहुत बड़ी देन देते हैं।

[ता २७- ५१ को कुमार-सेवा-सदन जोधपुर की ओर से आयोजित विचार परिषद् के अवसर पर]

स्वार्थ का अतिरेक

धर्मका मूल समता है। वह मानव-मानवके बीच ही नहीं प्राणीमात्रके साथ होनी चाहिए। मनुष्य इतना स्वार्थी बनगया कि वह सिर्फ अपने लिए समानताकी बात करता है। दूसरोंकी पीड़ा उसे पीड़ा सी लगती ही नहीं।

मनुष्यके प्रति अन्याय करने से सिर्फ इसीलिए कुछ संकोच होता है कि वह उसे ईंटका जबाब पत्थरसे देनेकी बात जानता है और देदेता है। बेचारे मूक प्राणी कुछ कर नहीं पाते इसलिए उनके प्रति निमम व्यवहार करनेमे मनुष्यको जरा सा भी सकोच नहीं होता। किन्तु विचारशील मनुष्य-समाजके सिर वह कलक का टीका है।

कई पश्चिमी यात्रियोने मुझे कहा कि भारतके धर्मप्रधान कहलानेवाले लोग पशुओंके प्रति बड़े क्रूर है। इसमे कोई शक

नहीं कि इस समय भारतीय जनतामें स्वार्थका अतिरेक होरहा है।

जो मनुष्य साधन-शुद्धि द्वारा जनता का वर्तमान रुख बदलने में सक्षम है, उसकी सत् प्रवृत्तियों को प्राणीमात्र की बहुत बड़ी सेवा मानता हूं।

[अक्तूबर ५१ को बम्बई में आयोजित जीवदया मण्डल के विशेष अधिवेशन के अवसर पर]

साधर्मिक मिलन

साधर्मिक बन्धुओंके मिलन से सौहार्दपूर्ण वातावरण बनता है। समान धार्मिकों में धार्मिक वात्सल्य की अपेक्षा रहती है। यह धर्म-प्रभावना का एक अंग है। मैत्री, सगठन और चारित्र्य ये विकास की भूमिकाएँ हैं। मेरी सम्मति में बहु-जन-मिलन का फल यही होना चाहिए कि मैत्री-भाव बढ़े, सघर्ष मिटे और चरित्र-विकास की सामूहिक प्रेरणा मिले।

[ता० ३-१० ५२ को आमलनरमें आयोजित खानदेश प्रादेशिक जै० श्वे० ते० सभा के त्रैवार्षिक अधिवेशन के अवसर पर]

विद्यार्थी या आत्मार्थी

विद्या-अर्जन का मकसद केवल साक्षरता तथा ऊँची ऊँची उपाधियाँ पा लेने से पूरा नहीं होता। उसका सही लक्ष्य है—जीवन को समझना उसे संस्कारित बनाना। विनोबा जी ने एक जगह लिखा है— अधिक पढ़ना एक व्यसन है यदि उस पर मनन और आचरण न किया जाये। बात ऐसी ही है। जिस पढ़ाई ने अन्तरतम को नहीं छुआ उसे जागृत नहीं किया वह पढ़ाई कैसी पढ़ाई ?

विद्यार्थी सही माने में आत्मार्थी है। वह आत्मा को खोजे अपनी बुराइयों को देखे उनसे अपने को मुक्त बनाये। फलत जीवन में संस्कार और सात्विकता आयेगी।

विद्यार्थी-जीवन एक तपस्वी-जीवन है साधना-काल है भावी जीवन के लिए सृजन-वेला है। तपस्वी की तरह विद्यार्थी

अपने को संयत और साधनाशील बनाता हुआ इस महत्त्वपूर्ण वेला को सफल बनावे। फैशनपरस्ती दिखावा, आडम्बर व बाहरी चकमक मे न फँस जीवनमे सादगी, सरलता और हलकेपन को प्रश्रय दे। उसका चरित्र शुद्ध हो, मन संयत हो, खान-पान की अशुद्धि मिटे। सचमुच वह एक नई चेतना और जागृति का अनुभव करेगा।

चरित्र जीवनकी बुनियाद है। जीवनका ऊंचा प्रासाद उसी पर आधारित है। बुनियाद मजबूत होनी चाहिए। महात्मा गाधी जब बैरिस्टरी पास करने इङ्गलैण्ड जाने लगे, एक जैन सन्तके समक्ष उनकी माताने उन्हें विदेशमें अशुद्ध खान-पान से बचने व चरित्र न गिरानेकी प्रतिज्ञा दिलवाई। यह प्रतिज्ञा उनके जीवनमें एक अमिट रेखा बनगई। आगे चलकर उनका जीवन कितना सात्त्विक रहा, यह किसीसे छिपा नहीं है।

विद्यार्थियोंको दृढ़प्रतिज्ञ रहना चाहिए कि वे अपने चरित्रको शुद्ध रखेंगे। आचरणमें कोई दोष न आने देंगे।

आज न जाने यह कोई डिप्लोमेसी होगई है या क्या हो गया है—मानव कहता बहुत है पर करता बहुत कम है। वह दूसरोंको सिखाने तथा सुनानेके लिए जितना उत्सुक रहता है, उतना सीखने और सुननेके लिए नहीं। विद्यार्थियोंको इस मनोवृत्तिसे परे रहना है। उन्हें सीखना व सुनना अधिक है, कहना कम। प्रकृतिने भी स्यात् इसीलिए कान दो दिये हैं और जीभ

एक। जिसका अभिप्राय है—अधिक सुनो कम बोलो। अन्तमें यही कहना है—विद्यार्थी चरित्रगठन और नैतिकताके आदर्शों पर चलते हुए अपने जीवनका निर्माण करें।

[अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद् जोधपुर शाखा की ओर से ता ४ १ ५१ को आयोजित विद्यार्थी-सम्मेलन के अवसर पर]

अहिंसा और दया का ऐक्य

सब प्राणियोके प्रति संयम, समता, अनाभिद्रोहका नाम अहिंसा है। किसी प्राणीको किसी भी प्रयोजन या साध्यके लिए पीड़ा देना, सताना, मारना, मनको चोट पहुचाना हिंसा है। आवश्यकता एवं अनिवार्यतासे हिंसा-अहिंसा नहीं बन जाती। चूकि एक व्यक्ति हिंसाके बिना समाजमे अपना निर्वाह नहीं कर सकता इसी हेतु उस हिंसाको अहिंसा मान बैठना मूलमे भूल है। विशुद्ध अहिंसामे अपवाद नहीं। हां माना, राजनीति तथा शासन-सूत्रका सचालन अथवा निर्वाह हिंसाके बिना हो नहीं सकता। न्याय-व्यवस्था, राष्ट्र-रक्षा आदिके निमित्त राजनैतिक व सामाजिक व्यक्ति यथावश्यक हिंसाका सहारा लेते हैं। अपने-अपने क्षेत्रकी दृष्टिसे ऐसा करना अपना कर्त्तव्य समझते है। इसी प्रसगमे राजनैतिक आवश्यकताकी दृष्टिसे कहा गया है,—

माततापिनम् हन्तुन्नी भवति कश्चन ।

धन्ये आवश्यकताएं या कर्तव्य हिंसाको अहिंसा नहीं बना सकते। हिंसा हिंसा ही है। अहिंसाका सम्पूर्ण पालन न किया जा सके, हिंसासे पूरी तरह बचा न जासके, इससे हिंसा अहिंसा नहीं बनजाती।

कहा जाता है—धर्मके लिए होनेवाली हिंसा हिंसा नहीं होती। मैं कहूंगा—धर्म और हिंसा—इनका कैसा जोड़ा? जो हिंसासे जन्य है वह कभी धर्म हो सकता है? धर्म तो अहिंसा त्याग सचाई और समतामें है। जो धर्म हिंसासे रंजित है वास्तवमें वह धर्म नहीं धर्मके नाम पर कलंक है। धर्मका जामा पहने वह अधर्म है।

अहिंसा दया या अनुकम्पा एक है। इनमें नाम-भेदके अतिरिक्त तत्त्वतः कोई भेद नहीं। दयाके दो रूप हमारे सामने हैं—पाप आचरणसे आत्माको बचाना दया है। किसी प्राणीको अपनी ओरसे पीड़ा न देना हिंसा न करना दया है। भूखको प्यासको दीन-दुःखीको भौतिक सहायता अथवा शारीरिक सहयोग द्वारा तकलीफसे छुड़ाना भी लोकमें दया या अनुकम्पा कहा जाता है।

यहां समझनेकी बात यह है—समाजमें जो व्यक्ति रहते हैं, उनका आपसमें सामाजिक सम्बन्ध है। एक दूसरेके सहयोग पर उनके जीवन आश्रित हैं। आपसी सहायता लेनदेन प्रभृति

ऐसे कार्य है जो उनके सामाजिक सम्बन्धोंसे जुड़ेहुए हैं। ये अध्यात्म-धर्मके कार्य नहीं, लोक कर्त्तव्यके कार्य हैं। आध्यात्मिक दयामें ये नहीं आते। लौकिक दयामें इनकी गणना होती है, जो मोहजन्य है। इसीलिये लौकिक और लोकोत्तर इस रूपमें दयाके दो भेद हैं। लोकोत्तर दया अध्यात्म-दया है, लौकिक दया मोह-दया है।

जैन-शास्त्रोंमें नमि राजर्षि जो वैदिक ग्रन्थोंमें राजर्षि जनक के नामसे प्रसिद्ध है, का उदाहरण आता है। उनकी नगरी मिथिला आग से जलरही थी। इन्द्रने कहा—राजर्षे। मिथिला जलरही है आपकी दृष्टि अमृतमयी है। आगकी शान्तिके लिए आप इस ओर देखें। विरक्त राजर्षि बोले—

"मिथिलाया दह्यमानाया, न मे दहति किञ्चन।"

अर्थात् मिथिला जलरही है, इसमें मेरा क्या जलता है। यह पहुचे हुए योगी और विरक्तकी वाणी है।

इस प्रकार अहिंसा, दया व अनुकम्पा तत्त्वतः एक ही है।

[४-१०-५३ केवल-भवन, मोती-चौक, जोधपुर]

आत्म धर्म और लोक धर्म

भारतीय साहित्य में धर्म शब्द का बहुत तरह से प्रयोग हुआ है। इसकी बहुत सी व्याख्यायें हमें मिलती हैं जो इसके भिन्न भिन्न अर्थों को प्रगट करती हैं। जहां एक जगह आत्मशुद्धि के साधन या मोक्षोपाय के रुप में इसका प्रयोग हुआ है दूसरी जगह लोक-मर्यादा समाज-व्यवस्था सामाजिक नीति नागरिक कर्त्तव्य नैतिक कर्त्तव्य राजधर्म प्रभृति अर्थों में यह आया है। आत्मशुद्धि का साधन और लोकव्यवस्था के ये काम सर्वथा एक नहीं हो सकते। ये जीवन के भिन्न पहलू हैं अतः केवल धर्म शब्दके प्रयोगमात्र से ही एक विशेष धारणा कोई बनाले, वह उचित नहीं। यह बारीकी से समझने का विषय है।

धर्म शब्द के अबतक के इतिहास और प्रयोग को देखते उसे हम स्थूलरूपमें दो भागों में बांट सकते हैं—आत्म-धर्म और लोक-धर्म। सामाजिक व्यक्ति या नागरिक के जो भी कर्त्तव्य

है—जैसे व्यवसाय करना, परिवार का लालन-पालन करना, राष्ट्र-रक्षा के लिए युद्ध मे भाग लेना, वंश-परिचालन के लिए विवाह करना, परिवार-पोषण के लिए धन का संग्रह करना ये सब लोक-धर्म के अन्तर्गत है। आत्म धर्म या मोक्ष का मार्ग इससे भिन्न है। उसमे धन-सचय को स्थान नहीं, अपरिग्रह का महत्त्व है। वंश-परिचालन के बदले ब्रह्मचर्य और तपस्या का विधान है। परिवार के लालन-पालन के स्थान पर "वसुधैव कुटुम्बकम्" के आदर्श को ले विश्व मे समता, मैत्री व बन्धुता के प्रसार का लक्ष्य है।

गीता के प्रसिद्ध भाष्यकार श्री लोकमान्य तिलक ने गीता-रहस्य मे इस विषय का स्पष्टीकरण करते हुए लोक-धर्म और आत्मधर्मका स्पष्ट अंतर स्वीकार किया है। उन्होंने बताया कि पारमार्थिक धर्म मोक्षधर्म है, बाकी के सारे कार्य जो लोक-धर्मके अन्तर्गत आते हैं, सामाजिक कर्त्तव्य है, नीति[1] है।

बहुतसे व्यक्ति धर्म शब्दमे उलझ जाते है। उदाहरणार्थ—एक छोटासा सामाजिक कार्य किया, एक सामाजिक भाईको एक गिलास पानी पिलादिया, किसी भूखेको एक रोटीका टुकड़ा देदिया, समझने लगे—उन्होंने बड़ा भारी धर्म कमालिया। वे यह नहीं समझते कि एक सामाजिक भाईके नाते वह व्यक्ति उनके दान या धर्मका पात्र नहीं, वह तो सहयोगका अधिकारी है। सामाजिक कर्त्तव्य, लौकिक या नागरिक उत्तरदायित्वके

---

[1] गीतारहस्य पृष्ठ ६४-६६

नाते यदि इतनासा सहयोग भाईका करदिया तो कौनसा बड़ा काम किया, अपना कर्तव्य निभाया।

आत्म धर्म और लोक-धर्ममें मुख्य अंतर है—आत्म धर्म आत्म शुद्धिका साधन है। वह अहिंसा और सत्यके माध्यमसे चलता है। जबकि लोक-धर्ममें अनिवार्य आवश्यकताके प्रसंगमें अहिंसा और सत्यके विरुद्ध भी आचरण होता है। आत्म-धर्म शाश्वत है अपरिवर्तनीय है। उसका मूल स्वरूप कभी बदलता नहीं पर लोक-धर्म देश काल परिस्थिति आदिके अनुसार सदा बदलता रहता है। आत्मधर्म मानवमात्रके लिए प्राणीमात्रके लिए समान है जबकि लोक-धर्मके भिन्न भिन्न स्तर हैं। अपने अपने काय क्षेत्रके अनुसार भिन्न भिन्न रूप रेखाएँ बनती हैं। इस प्रकार दोनोंमें मौलिक अंतर है। संक्षेपमें—आत्म-धर्म आत्म-साधना का प्रतीक है मुक्तिका साधन है। लोक-धर्म लोक-मर्यादाका निबाहक है। लोकमें रहनेवालोंके लिए यह आवश्यक माना जाता है।

[ता ७ १ ५१ कैवलभवन मार्तीचौक जोधपुर]

आह्वान

आज देशमे जन-जागरण की आवश्यकता है। म साहित्य-कारो तथा कवियो से कहूगा—व अपनी ओजस्विनी वाणी से जन-जन के अतरतम को झकृत कर दें, उनमे ऐसी प्रेरणा भरदें कि जीवनको बर्बाद करदेनेवाली बुराईयोसे अपनेको छुडा भलाई, सचाई, न्याय और नीतिके राजमार्ग पर वे आसकें। आज जन-जनमे नैतिक जागृति तथा आचार-शुद्धिके प्रति निष्ठा जागृत करनी है, रसातलको जातीहुई मानवताको बचाना है। कवियों एव साहित्य-स्रष्टाओं पर इसका भारी उत्तरदायित्व है। क्या मे आशा करूं—अपने उत्तरदायित्वको निभानेमे वे कोई कसर नहीं छोडेंगे?

अणुव्रत-आन्दोलन इसीतरहका एक उपक्रम है, जिसे अपना-कर लोग जीवन-विकास व नैतिक निर्माणका रास्ता पासकें। मैं कवियो एव साहित्यस्रष्टाओसे यह भी चाहूंगा कि वे इस चरित्र-

निर्माणके रचनात्मक कार्यक्रमको जन जन तक पहुंचानेमें सहयोगी बनें।

इस अवसर पर मैं देशके सन्तों महन्तों एवं सन्यासियोंसे भी कहना चाहूंगा—वे अपने मठों और पीठोंका मोह छोड़ जन-जनमें नैतिक चेतना व चारित्रिक जागृतिका मन्त्र फूंकें। राष्ट्र उनकी तरफ आशा भरे नेत्रोंसे निहार रहा है।

[[illegible] चतुर्थ-वार्षिक-अधिवेशनके अन्तर्गत ता० १७-१ [illegible] को आयोजित कवि-सम्मेलन के अवसर पर]

दीपावली—

भगवान् महावीर का निर्वाण

पर्व दिन या त्यौहार किसी राष्ट्रकी सांस्कृतिक चेतना व आत्मिक स्फूर्तिके उद्बोधक है। दीपावली भी एक ऐसा ही पर्व दिन है, जो भारतीय आदर्शोंका गौरवपूर्ण इतिहास लिये प्रतिवर्ष आता है। भारतीय जीवनमे परिग्रह और वैभव ऊंचेपनकी निशानी नहीं मानी गई। त्याग, सयम, साधना व आचार ही वे साधन हैं, जिन्हें भारतीय परम्परामें ऊचेसे ऊंचा स्थान प्राप्त हुआ।

जैन-परम्परानुसार दीपावली इन्हीं त्याग, संयम व अपरिग्रहवृति आदि सद्गुणोंका सस्मारक दिवस है। आजके दिन भगवान् महावीरने निर्वाण प्राप्त किया। आत्म-उत्थान तथा जन-निर्माणके जिस महान् लक्ष्यको लिए भगवान् महावीरने राजपाट, वैभव-विलास व धन-सपत्तिको ठुकरा त्याग और साधनाका

मार्ग अपनाया आजके दिन वह पूरा हुआ। उन्होंने आत्म स्वभावका वरण किया। समयकी जाज्वल्यमान ज्योतिसे अमावस्याकी अंधेरी रात जगमगा उठी। आत्म-समरके महान् योद्धा को विजय श्रीकी प्राप्ति हुई। यह दिन सबके लिए एक प्रतिष्ठित दिन बन गया।

अहिंसाका ज्योंही स्मरण करते हैं भगवान महावीर तुरन्त स्मृति-पथ पर आ जाते हैं। वर्गहीन जातिहीन समतामूलक समाजकी ज्योंही कल्पना करते हैं भगवान महावीरका मूर्तिमान चित्र हमारे सामने आ जाता है। हिंसक वृत्तियोंके अनवरत आघातोंसे जर्जरित बने मानव-समाजको भगवान् महावीरने अहिंसाका पाठ पढ़ाया। जातिवाद तथा ऊँच-नीचकी भूलभुलैयामें फंसे मनुष्योंको उन्होंने संदेश दिया—जन्ममात्रसे कोई ऊँचा या पूजनीय नहीं होता। ऊँचापन ऊँचे कामोंमें है चाहे कोई भी करे। ब्राह्मण क्षत्रिय या वैश्यके घरमें जन्मने मात्रसे कोई ऊँचा हो जाय और शूद्रके यहाँ जन्म लेना ही किसीके नीचेपनका कारण हो यह कहाँका न्याय है। विषमता रूढ़िवाद और हिंसाके अन्धकारमें भटकते मानव-समाजके लिए उनका यह क्रान्तिकारी संदेश था, जिसने जादूका सा असर किया। फलत जातिवादके बन्धन टूटते हुए हिंसाका बादल अहिंसाकी प्रखर शक्तिसे तिरोहित हो उठा।

दीपावली के इस सांस्कृतिक पर्व के उपलक्ष्य में जन-जनसे कहूँगा कि वे अपनी आत्माके मैलका परिमार्जन कर शोधन

भ्रष्टाचार जैसी असद्वृत्तियोंको तिलांजलि देनेके लिए दृढ़प्रतिज्ञ हों। त्याग, सच्चाई व समताके दीपक संजोएं। जीवनव्यापी अंधेरा दूर होगा, सच्ची ज्योति दर्शन होंगे। सही मानेमें दीपावली की यही मनौती है।

[[illegible] नागपुर]

विकास या ह्रास

जैसा कि लोग मानते हैं—आज संसारने बड़ा विकास किया है वैज्ञानिक आविष्कारोंके जरिये वह बहुत आगे बढ़ा है पर मेरी राय इसके विपरीत है। मेरा कहना है—आज संसारने विकास नहीं बल्कि ह्रास किया है और दिन पर दिन ऐसा करता जा रहा है। विज्ञानजन्य यान्त्रिक सुविधाओंका परिणाम यह हुआ कि मानव पंगु बन गया उसकी आत्मनिर्भरता जाती रही। उसका आज चलना, फिरना बोलना आदि सब परावलम्बनसे अभिभूत होगया। दो कदम चलना होगा तो भी उसे मोटर चाहिएगी पांच सौ आदमियोंके बीच बोलना होगा तो भी वह माइकके बिना अपनेको असमर्थ पायेगा। तिस पर भी आजका मानव यह दम भरता है कि उसने प्रगति की है।

इस तथाकथित प्रगति या विकासका दूसरा परिणाम यह हुआ मानव भौतिकवादकी चकाचौंधमें इस कदर उलझा कि

अपने आपको भी वह भुला बैठा। अपने जीवनको वह देखे, अन्तरतमको टटोले—आज इसकी सबसे बड़ी आवश्यकता है।

भोग-लिप्सा, विषय-वासना और स्वार्थोंकी भट्ठीमें मानवका स्वत्व आज भस्मसात् हुआ जारहा है। उसे अपने स्वत्वकी रक्षा करनी है। इसके लिए उसे आत्मानुशीलन एवं संयमके पथ पर आना होगा।

यद्यपि यह सच है कि हर व्यक्ति अपना जीवन पूर्ण संयमी नहीं बनासकता पर उसका प्रयत्न यह रहे कि खाना, पीना, चलना, फिरना, देखना आदि जीवनकी हर प्रक्रियामें संयम हो। संयमित जीवन-चर्या ही सच्ची स्वतन्त्रताकी निशानी है। अध्यापक, जिन पर जन-निर्माणका, राष्ट्र-निर्माणका भारी उत्तरदायित्व है, संयमित जीवन-चर्याका अभ्यास करें। जीवनको व्यवस्थित तथा स्वावलम्बी बनायें।

आज साक्षरताके लिए जितना प्रयास है, चारित्र्य एवं सदाचारकी शिक्षाके लिए उतना नहीं। शिक्षाधिकारियों एवं शिक्षकोंको इस ओर जागरुक रहते हुये इस पर विशेष ध्यान देना है। ध्यान रहे—चारित्र्य एवं सदाचारशून्य विद्या केवल भार है।

[ता० १२-११-५३ जे० टी० सी० टीचर्स ट्रेनिंग स्कूल, विद्याशाला, जोधपुर,]

जीवनका आलोक

अहिंसा जीवनका आलोक है, हिंसा जीवनका विकार। स्व सत्, चित् और आनन्दकी अनुभूति ही अहिंसा है। दूसरोंकी सत्ता, चित् और आनन्दका अपहरण हिंसा है। मनुष्यकी महत्त्वाकांक्षा स्वतः स्वोन्नयनकी ओर प्रवृत्त न होकर परतः स्वोन्नयनकी ओर प्रवृत्त होती है। यही पर-स्वके स्वीकरणकी वृत्ति हिंसाका बीज है।

जीवन निर्वाहके साधनोंका केन्द्रीकरण हुआ। फलतः शोषण बढ़ा, हिंसा बढ़ी।

पदार्थोंका विस्तार हुआ, फलतः परिभोग बढ़ा, लालसाएं बढ़ीं।

पाशविक शक्तिका विकास हुआ, फलतः महायुद्ध बढ़े, अशान्ति बढ़ी, कठिनाइयां बढ़ीं।

विश्वशान्तिके लिए यह अपेक्षा है कि :—

(१) युद्ध न हो।

(२) लालसाएं सीमित रहें।

(३) शोषण न रहे।

किन्तु गति इसके विपरीत मिलती है।

राष्ट्र-उन्नतिके लिए केन्द्रीकरणको प्रोत्साहन मिलता है। जीवन-स्तरको ऊंचा उठानेके लिए अधिक परिभोगको और शक्ति-सतुलनके लिए पाशविक शक्तिको उत्तेजन मिलता है। कारणको जीवित रखकर उसका परिणाम टालना चाहते हैं—यह वर्तमान युगका विशेष वातावरण है।

रोगकी जड यह है कि हमारा चिन्तन-बिन्दु चैतन्य नहीं, किन्तु पदार्थ बन रहा है। उन्नति, विकास, सभ्यता और सस्कृतिकी सारी मर्यादाएं उसीको माध्यम मानकर चलती है।

वैज्ञानिक स्थितियोंके फलस्वरूप युगमें नव-जागरण आया है। हिंसा और संघर्षोंके फलोंसे उकता कर आजका मनुष्य अहिंसाकी ओर मुडा है। यहां हम पर, अहिंसावादियों पर एक उत्तरदायित्व आता है। वह यह कि हम उस मोड़को आगे बढ़ाएं। अपनी सारी प्रवृत्तियोंको अहिंसामें केन्द्रित कर वातावरणको प्रेममय बना डालें।

अहिंसकोंको इसके लिए बलिदान करना होगा, त्यागना होगा—सग्रहका मोह, संग्रहकी भित्ति पर टिकनेवाले बड़प्पनका मोह। ज्योंही शोषण और सग्रहकी भावना टूटेगी प्रेमका वातावरण बढेगा।

हिंसाके पीछे लोक-संग्रहकी शक्ति है। अहिंसाके पास वह नहीं। वह केवल प्रेमके बल पर टिकी हुई है और रहेगी।

अहिंसाने क्या किया? यह अवसर इस पर विचारका नहीं है। अहिंसा विशेष प्रचार नहीं पा सकी फिर भी वह अपनी सत्तामात्रसे सफल है। यदि ऐसा नहीं होता तो हिंसाके अद्वैतमें हमें द्वैत मिलता ही नहीं।

अणुव्रत आन्दोलनका साध्य है—अहिंसाकी मात्रा बढ़े। इसी उद्देश्यसे अहिंसा दिवस मनानेकी भावना इससे जुड़ी हुई है। अहिंसा और अ-शोषणकी नींव पर समाजकी पुनर्-रचना होगा तभी कल्याण होगा। इस पुण्य अनुष्ठानमें अहिंसा कर्मियोंका सहयोग सफल बने—मैं यही चाहता हूं।

[ता० १५-११-५१ को कॉन्स्टीट्यूशन क्लब नई दिल्लीमें भारतीय लोकसभाके अध्यक्ष माननीय श्री जी० वी० मावलंकरकी अध्यक्षतामें आयोजित अहिंसा दिवसके अवसर पर]

वे आज कहाँ ?

संसारमे न जाने कितने व्यक्ति आये और चले गये। आज उनका नाम निशान भी नहीं रहा। वे बडे-बडे सम्राट् तथा सत्ताधीश, पराक्रम एव वैभवके गर्वसे जिनके पैर धरती पर नहीं टिकते थे, आज कहाँ हैं ? कराल कालके प्रबल प्रवाहमे अदने तिनकोंकी तरह वे बह गये। पर व्यक्तिके जीवनमें कुछ ऐसे सत्य भी होते है, व्यक्तिके मिट जाने पर भी जो युग-युग तक उसके व्यक्तित्वको जीवित रखते हैं। अत हर व्यक्तिके यह ध्यान देने की बात है कि वह जीवनमे उन अमर सत्योंको जागृत करे, जिससे उसका ससारमे पैदा होना सार्थक हो। वे अमर सत्य है—अहिंसा, सचाई, मैत्री, भ्रातृभाव, प्रेम और सद्भावना। इनके बिना जीवन उसी तरह नीरस है जिस तरह नमकके बिना भोजन। हर व्यक्ति अपनेको देखता रहे और सचेष्ट रहे कि उसे अपने जीवनमे इन सद्गुणोको ढालना है।

अब तकका इतिहास इस बातका साक्षी है कि लोग ज्यों ज्यों विकारोंमें पड़, अनीतियोंमें आये उनकी जातिय'की जातियां बर्बाद होगईं वे अधिकारच्युत होगये उनकी प्रतिष्ठा जाती रही। कहनेकी जरूरत नहीं—शराब जैसी बुरी आदतोंने लोगोंका कितना बिगाड़ किया। इन बुरी वृत्तियोंमें पड़ मानव कर्तव्यहीन बना जिसका परिणाम विपत्तिके सिवाय और हो क्या सकता है। आज भी लोग क्यों शराब मांस जैसे दूषित व तामसिक पदार्थोंका त्याग करें। मुझे आश्चर्य होता है—जब खाने पीनेकी इतनी सुस्वादु तथा सुपुष्ट वस्तुएं उपलब्ध हैं तब भी मानव इन जघन्य वस्तुओंके भोगोपभोगमें पड़ अपनेको गिराता जा रहा है। हुआ सो हुआ अब भी वह सही रास्ते पर आये यदि वह जीवनको ऊंचा उठाना चाहता है।

जीवन जैसे स्वर्णिम पात्र का त्याग धूल ढोने में प्रयोग न करें। यह तो वह बहुमूल्य पात्र है जिसमें सद् ज्ञान सत् आचरण जैसे अमूल्य पदार्थ रखे जाने चाहिये। मुझे आशा है आप मेरे विचारों पर गौर करेंगे, उन्हें जीवन में उतारने को जागरूक होंगे।

ता २०।११।१९ क्रिकेट (उम्मेद भवन) जोधपुर